पहला संस्करण पौष १९८७
दूसरा संस्करण माघ १९८८

मुद्रक
देवचन्द्र विद्या
हिन्दी भवन
लाहौर

भूमिका

जीवन-चरित्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७ भाद्रपद शुक्ला ७ तदनुसार ९ सितम्बर १८५० को श्री काशी जी में हुआ। आपके पूर्वजों का दिल्ली के शाही घराने से घनिष्ठ सम्बन्ध था। जब शाहजहाँ का बेटा शाहशुजा सन् १६५० के लगभग बंगाल का सूबेदार होकर वहाँ गया तब आपके पूर्वज भी उसके साथ दिल्ली छोड़ कर बंगाल में चले गये। और जैसे जैसे बंगाल में मुसलमानों की राजधानी बदलती गई वैसे वैसे ये भी अपना निवास-स्थान बदलते गये। इसी वंश में आगे चल कर इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचंद हुए। इनके समय में भारतवर्ष में अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हुआ। सेठ साहब अंग्रेजों के प्रधान सहायक थे और लगभग ४० वर्ष से कलकत्ता में व्यापार कर रहे थे। आरम्भ में जिन का व्यापार फैलाने में अंग्रेजों ने इनसे बड़ी सहायता ली थी पर अपना व्यापार जम जाने पर इन पर दोष लगा कर इन्हें अलग कर दिया। इसी समय बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर चढ़ाई कर उसे लूट लिया। इनके घर-द्वार जला दिये गए जिनके साथ इनके घर की कई स्त्रियाँ और पुरुष भी जल कर मर गये। अंग्रेजों ने अब इन्हीं से सहायता प्राप्त कर प्लासी के युद्ध में नवाब को पराजित कर गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर मीर जाफर को गद्दी पर बैठाया। इस षड्यंत्र में अमीचन्द भी सम्मिलित थे पर पुरस्कार देने के समय इनका नाम छल से निकाल दिया गया। इससे इन्हें इतना क्षोभ हुआ कि इस सदमे से बेहोशी की अवस्था ही में इनकी मृत्यु हो गई।

उपरिलिखित घटनाओं से क्षुब्ध होकर इनके पुत्र राय रत्न
तथा फतहचंद ने आकर काशी में रहना शुरू किया। राय रत्नचंद
पुत्र तथा पौत्र की मृत्यु उनके जीवन-काल में ही हो गई अ
फतहचंद के पुत्र बाबू हर्षचंद अपने पिता तथा चाचा की संप
के अधिकारी हुए। बाबू फतहचंद का विवाह काशी के जगत
बाबू गोकुलचंद की इकलौती कन्या से हुआ था अतः उनके
बाबू हर्षचंद को अपने पिता की भी सारी संपत्ति मिल गई

बाबू हर्षचंद काशी में राजा-प्रजा सबके सम्मान-पात्र थे
इनके पुत्र गोपालचंद उपनाम 'गिरिधरदास' हुए। जब गोपाल
११ वर्ष के थे तभी बाबू हर्षचंद का देहांत हो गया। ब
गोपालचंद जी की छोटी अवस्था को देख कर बाबू हर्षचंद अप
एक आदमी को अपने व्यापार इत्यादि के प्रबंध का समस्त का
भार सौंप गये थे पर वह उसे ठीक तरह न चला सका। इसलि
बाबू गोपालचंद जी ने ही १३ वर्ष की अवस्था में सब पैतृ
संपत्ति का प्रबंध अपने हाथ में ले लिया और उसे बड़ी योग्यत
से चलाया।

बाबू गोपालचंद जी के दो पुत्र और दो कन्यायें—चा
संतान—हुई। ज्येष्ठ पुत्र भारतेंदु हरिश्चंद्र ही थे।

बाबू गोपालचंद जी यद्यपि अधिक शिक्षित न थे तो भ
वे अच्छे कवि थे। उन्होंने ४० ग्रंथ रचे, जिनमें 'जरासंध-वध
ही विशेष प्रसिद्ध है। विशुद्ध नाटक-रीति से पात्र-प्रवेशा
नियमों से युक्त हिंदी का प्रथम नाटक (नहुष नाटक) इन्हीं का
बनाया हुआ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इनके विचार भी बड़े
परिष्कृत थे। जब पहले-पहल काशी में कन्या-पाठशाला स्थापि
हुई, तो सबसे पहले इन्होंने ही अपनी बड़ी लड़की को वहाँ पढ़ने
बैठाया। उस समय यह कार्य बड़ा कठिन था क्योंकि लोग स्त्री-

शिक्षा के कट्टर विरोधी थे। साथ ही उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके छोटे भाई बाबू गोपालचंद को अँगरेजी भी पढ़ाना शुरू किया।

पिता की तरह भारतेंदु जी ने भी प्रखर बुद्धि पाई थी। केवल पाँच वर्ष की अवस्था में ही जब कि और बालक शुद्ध बोलना तक नहीं जानते उन्होंने निम्नलिखित दोहा बनाया था—

"लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान
बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान।"

इनकी माता का देहांत सं० १९१२ में और पिता का सं० १९१६ में हुआ था। इनको पैतृक-संपत्ति लाखों रुपये की मिली थी। अतः केवल दस वर्ष की अवस्था में ही ये संपन्न घर के स्वछंद बालक हो गये।

इनके पिता बाबू गोपालचंद के शीघ्र परलोकवासी हो जाने के कारण इनकी शिक्षा यथोचित रीति पर न हो सकी। पिता की मृत्यु के अनंतर ये क्वींस कॉलेज से संबद्ध स्कूल में दाखिल हुए। पर चंचल प्रकृति होने के कारण, तथा किसी बड़े का नियंत्रण न होने के कारण ये पढ़ने-लिखने में इतना ध्यान न देते थे; फिर भी बुद्धि की तीव्रता के कारण समय समय पर साथियों को नीचा दिखा अपने अध्यापकों को आश्चर्य में डाल देते थे। १५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने पढ़ना छोड़कर सकुटुंब जगन्नाथ की यात्रा की। इस यात्रा में इन्होंने मराठी, बंगला, गुजराती, मारवाड़ी आदि अनेक भाषायें समय समय पर स्वयं सीख लीं। १४ वर्ष की अवस्था में बाबू गुलाबराय की कन्या मन्नोदेवी से इनका विवाह हुआ। इसके बाद उन्होंने अमृतसर, पुष्कर इत्यादि स्थानों की यात्रा की। इन्हीं यात्राओं में इन्हें देश के भिन्न भिन्न भागों के लोगों के विचारों तथा रीति-रिवाजों से परिचित होने का अवसर मिला।

संवत् १९४१ में ये बलिया गए। यही इनकी अन्तिम यात्र
ा। इसके अनन्तर फिर ये कहीं न जा सके और संवत् १९४
इनका देहावसान हो गया। इन्होंने कुल ३५ वर्ष की आयु पा
ास में से १७-१८ वर्ष सार्वजनिक कामों में अपना समय लग
र इन्हों ने देश तथा मातृभाषा की वह सेवा की जिससे ये
जर-अमर हो गये।

संवत् १९२३ में इन्होंने चौखम्भा-स्कूल स्थापित किया
ासमें बिना फ़ीस दिये बालक पढ़ते थे। इस स्कूल को १२ वर्ष
क भारतेन्दु ने अपने ख़र्च से चलाया। आज-कल भी यह स्कूल
हरिश्चन्द्र-हाई-स्कूल" के नाम से इनकी कीर्ति को बढ़ा रहा है।

संवत् १९२५ में इन्होंने "कवि-वचन-सुधा" नाम की मासिक
त्रिका निकाली। कुछ काल के अनन्तर यह पाक्षिक और फिर
साहिक हो गई। पहले इसमें केवल कविता ही छपती थी पर
छे गद्य का भी प्रवेश हुआ। भारतेन्दु ने यह पत्रिका ७॥ वर्ष
क निकाली। इसके बाद यह दूसरों के हाथों में चली गई, पर
रतेन्दु की मृत्यु के कुछ दिन बाद यह बिलकुल बन्द हो गई।

संवत् १९२७ में इन्होंने "कवितां वर्धिनी सभा" और उसके
छ दिन बाद "पेनीरीडिंग क्लब" तथा "तदीय समाज" इत्यादि
थाओं की स्थापना की। इन सभा-समाजों में कई तत्कालीन
वि तथा पंडित इकट्ठे होते और अपनी रचनायें सुना कर
स्कार एवं प्रशंसा-पत्र पाते थे। "तदीय समाज" के सदस्यों
एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखना पड़ता था जिसमें मुख्य प्रतिज्ञा
हिंसा तथा स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की थी।

सं० १९३० में इन्होंने "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" निकाली। आठ
न बाद इसका नाम "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" हो गया। इन्हीं दिनों
होंने स्त्रियों के लिए "बाला बोधिनी" नामक पत्रिका भी

निकाली। "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" को छः वर्ष निकाल कर उन्होंने उसका उत्तरदायित्व श्री मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या को सौंप दिया। तदनन्तर कुछ दिन बाद ही यह 'चन्द्रिका' अस्त हो गई। "बाला बोधनी" भी केवल चार वर्ष तक ही चल सकी।

भारतेन्दु रसिक व्यक्ति थे। गाने बजाने आदि का इनको बेहद शौक था। हास्य के तो ये अवतार ही थे। इनकी बात बात में हँसी टपकती थी। होली के दिनों में ये लकड़ी का मोटा कुंदा बाँध कर कबीर गाते फिरते थे। पहली एप्रिल को लोगों को "एप्रिल-फूल" बनाने के लिए कुछ न कुछ तमाशा अवश्य करते थे। एक बार इन्होंने नोटिस दे दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ्त गाना सुनावेंगे। हज़ारों आदमी इकट्ठे हो गये। नियत समय पर जब पर्दा उठा तो एक मनुष्य विदूषक के वेष में उल्टा तानपूरा लिये मधुर गर्दभ स्वर में गाने लगा। यह देख कर सब लोग लज्जित हो, हँसते हुए घर लौट गये।

मृत्यु तक हँसी ने इनका साथ नहीं छोड़ा। ये मृत्यु शय्या पर पड़े थे, कि जनाने से एक नौकरानी हाल पूछने आई। आपने हँस कर कहा—"हमारे जीवन-नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है। पहले दिन ज्वर का, दूसरे दिन दर्द का, तीसरे दिन खाँसी का सीन खतम हो चुका है, देखें "लास्ट नाइट" कब होती है। उसी दिन रात के पौने दस बजे भारत का मुखोज्ज्वलकारी भारतेन्दु सदा के लिए अस्त हो गया।

भारतेन्दु स्वभाव से ही बड़े उदार और दानी थे। कवियों और पंडितों को हज़ारों रुपये दान कर देते थे। दीपमालिका को इत्र के चिराग़ जलाते थे। सारांश यह कि रुपये को पानी की तरह बहाते थे। इनकी यह दशा देख कर एक दिन काशी-नरेश ने इनसे कहा—"बबुआ, धन को देख कर काम करो।" इस पर इन्होंने तुरन्त

उत्तर दिया —"हुजूर यह धन मेरे बहुत से बुजुर्गों को खा गया है, अब मैं इसको खा डालूँगा।" संवत् १९२७ में ये अपने छोटे भाई गोकुलचंद से अलग हुए। थोड़े ही दिनों में इन्होंने सब पैतृक संपत्ति उड़ा डाली। ननिहाल की कई लाख रुपये की संपत्ति के ये और इनके छोटे भाई उत्तराधिकारी थे। इनके उड़ाऊ स्वभाव को देख कर नानी ने सारी संपत्ति इनके छोटे भाई के नाम लिख दी। पर उस हिबानामा पर इनके हस्ताक्षर भी आवश्यक थे; परंतु इन्होंने उसमें जरा भी आना-कानी न की। यह काम इन्हीं का-सा उदार-चेता आदमी कर सकता था।

इतने गुणों के साथ साथ इन्हें शराब की बुरी लत भी पड़ गई थी। साथ ही मल्लिका नाम की बंगालिन से भी इनका लगाव हो गया था। उसे इन्होंने अपने घर में बैठा लिया था और अंत तक उसका निर्वाह करते रहे।

धन की कमी के कारण उनका अंतिम जीवन बड़ा कष्ट-कर रहा। उनके इस कष्ट-कर जीवन की छाप इनके ग्रंथों पर भी पड़ी और अंतिम जीवन के प्रायः प्रत्येक नाटक की प्रस्तावना में इस कष्ट-कर जीवन के विषय में एक दो वाक्य आ गये हैं।

भारतेंदु के विचार बड़े उन्नत थे। ये कट्टर समाज-सुधारक थे। देश-प्रेम इनमें कूट कूट कर भरा था। उनकी प्रत्येक कृति में देश-प्रेम की छाप टपकती है, विशेषकर भारत-दुर्दशा तथा नीलदेवी आदि ग्रंथ तो केवल इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। संवत् १९२७ में ये ऑनरेरी-मैजिस्ट्रेट नियत हुए पर पीछे अपने स्वतंत्र विचारों तथा देशोन्नति के भावों के कारण ये गवर्नमेंट की आँखों में खटकने लगे। इसीलिए संवत् १९३१ में इन्होंने ऑनरेरी मैजिस्ट्रेटी से इस्तीफ़ा दे दिया।

अपने विचारों को प्रकट करने में भारतेंदु कभी नहीं रुके।

व्यंग्य में तथा अन्य स्थान स्थान पर उनके एक ही विचार प्रतिध्वनित होते रहे हैं। उनके भावों और विचारों का परिचय उनके लिखे हुए "सत्यहरिश्चंद्र" नाटक के अंतिम पद्य से पूर्णतया मिल जाता है।

"खल गनन सों सज्जन दुखी मत होहिं हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख वहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहिं सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकविजन की अमृतवाणी सब कहै॥"

बाबू राधाकृष्णदास जी इस सिद्धांत-वाक्य पर विचार करते हुए लिखते हैं—"यद्यपि इस समय (संवत् १९६० में) इन बातों का कहना कुछ कठिन नहीं प्रतीत होता, परंतु उस अंध-परंपरा के समय में इनका प्रकाश्य रूप से इस प्रकार कहना सहज न था। नव्य-शिक्षित-समाज को "हरिपद रति रहै" कहना जैसा अरुचिकर था उससे बढ़कर पुरानी लकीर के फकीरों को "उपधर्म छूटै" कहना क्रोधोन्मत्त करना था। जैसा ही अँगरेज हाकिमों को "स्वत्व निज भारत गहै" "कर दुख बहै" कहना कर्ण-कटु था उससे अधिक "नारि नर सम होहिं" कहना हिंदुस्तानी भद्र समाज को चिढ़ाना था, परंतु भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जी में जो आया उसे कह ही डाला। और जो कुछ कहा उसे अंत तक निबाहा भी। इसी कारण वे गवर्नमेंट के क्रोध-भाजन हुए, अपने समाज में निंदित हुए और समय समय पर नव्य-समाज में भी बुरे बने परंतु जो व्रत उन्होंने धारण किया था उसे अंत तक नहीं छोड़ा।"

भारतेंदु केवल ३५ वर्ष की आयु में ही स्वर्ग सिधार गये। आपने १८ वर्ष की अवस्था में काव्य-रचना प्रारंभ की थी। पर इस १७ वर्ष के अल्पकाल में इन्होंने बड़े-छोटे सब मिलाकर कुल १७५ ग्रंथ बनाये। ७५ ग्रंथ इनके द्वारा संपादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाये हुए हैं।

इनकी इतनी साहित्य-सेवा का ध्यान करते हुए संवत् १९३७ में पंडित रामशंकर व्यास ने "सार सुधानिधि" नामक पत्र में इन्हें 'भारतेन्दु' की पदवी से विभूषित करने का प्रस्ताव किया। प्रस्ताव के प्रकाशित होते ही तत्कालीन सब पत्रों एवं विद्वानों ने उसका समर्थन किया। तभी से इन्हें इनके योग्य यह उपाधि मिली। हिन्दी, हिन्दू तथा हिन्द के दुर्भाग्य से यह भारतेन्दु चिरकाल तक भारतीय गगन को उज्ज्वल न कर सका। क्रूर काल ने शीघ्र ही उसका सांसारिक अस्तित्व इह-लोक से मिटा दिया, अन्यथा पता नहीं वह हिन्दी-जननी की ओर कितनी सेवा करता, तथा उसके साहित्य को अपनी अनुपम कृतियों से और कितना सजाता!

भारतेन्दु की साहित्य-सेवा

भारतेन्दु ने अपनी समस्त रचनाओं के प्रकाशित करने का स्वत्व खड्ग-विलास प्रेस के अध्यक्ष बाबू रामदीनसिंह को दिया था। जिन्होंने इनके मुख्य मुख्य ग्रन्थों को "हरिश्चन्द्र कला" के नाम से छः भागों में प्रकाशित किया।

प्रथम भाग (नाटकावली)

भारतेन्दु ने कुल १४ नाटक लिखे हैं जिनमें पाँच अनुवादित, सात मौलिक और दो अपूर्ण हैं। बाबू राधाकृष्णदास के मतानुसार भारतेन्दु ने निम्नलिखित छः नाटक और बनाये थे। प्रवासनाटक, नवमल्लिका, मृच्छकटिक, रत्नावली, भारत-जननी तथा दुर्लभ-बंधु। इनमें से प्रथम चार अपूर्ण हैं तथा प्रथम तीन प्रकाशित भी नहीं हुए। रत्नावली की केवल प्रस्तावना का ही भारतेन्दु जी ने अनुवाद किया था। अतः उसको हम उनके ग्रन्थों में सम्मिलित नहीं कर सकते। मृच्छकटिक तथा प्रवासनाटक तो अप्राप्य भी हैं। भारतजननी बंगला के एक इसी नाम के नाटक का अनुवाद है, पर भारतेन्दु जी के

थी उसी समय पकड़ आई है। अहा! धन्य है इसका रूप!!! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है। इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती हैं। अहा! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं वह ऐसी मालूम होती हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं। काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहाने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गये हैं। बाल हाथों में लिये हैं उससे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं मानो चन्द्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनी को ऐसा दबाया कि उनकी पूँछ से अमृत बहा जाता है। भींगे वस्त्र से छोटे छोटे इसके कठोर कुच अपनी ऊँचाई और श्यामलताई से यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी जाँघें इसके चिपके हुए भींगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं तो भी यह उनको दबाये देती है, परंतु इसी अंग के उघरने से यह लजा कर सकपकानी सी भी हो रही है, और योगबल से खिंच आने से कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो होकर भूले हुए मृगछौने की भाँति अपने चञ्चल नेत्र मचाती है!

× × × ×

विचक्षणा—गोरे तन कुमकुम सुरँग, प्रथम न्हवाई बाल।
राजा—सो तो जनु कंचन तप्यो, होत पीत सों लाल॥
विच०—इन्द्रनीलमणि पैंजनी, ताहि दई पहिराइ।
राजा—कमल कली जुग घेरिकै, अलि मनु बैठे आय॥
विच०—सजी हरित सारी सरिस, जुगल जंघ कहँ घेरि।
राजा—सो मनु कदली पात निज, खंभन लपट्यो फेरि॥
विच०—पहिराई मनि किंकिनी, छीन सुकटि तट लाय।
राजा—सो सिंगार मंडप बँधी, बंदनमाल सुहाय॥
विच०—गोरे कर कारी चुरी, चुनि पहिराई हाय।
राजा—सो सोंरिन-लपटी मनहुँ, चंदन साखा साथ॥

भारतेन्दु का प्रथम प्रयास होने पर भी इसकी भाषा बड़ी मधुर है। उसका नमूना नीचे दिया जाता है।

सखी हम कहा करैं कित जायँ ?
बिनु देखे वह मोहिनि मूरति नैना नाहिं अघायँ ॥ १ ॥
कछु न सुहात धाम धन गृह सुख मात पिता परिवार।
बसति एक हिय मैं उनकी छबि नैनन वही निहार ॥ २ ॥
बैठत उठत सयन सोवत निसि चलत फिरत सब ठौर।
नैनन तें वह रूप रसीलो टरत न इक पल और॥ ३ ॥
हमरे तो तन मन धन प्यारे मन वच क्रम चित माँहि।
पै उनके मन की गति, सजनि, जानि परत कछु नाँहि॥ ४ ॥
सुमिरन वही, ध्यान उनको ही, मुख में उनको नाम।
दूजी और नाहिं गति मेरी, बिनु पिय और न काम ॥ ५ ॥
नैना दरसन बिनु नित तलफैं, श्रवण सुनन कों कान।
बात करन कों मुख तलफै, गर मिलिबे कों ये प्रान ॥ ६ ॥

पाखण्ड विडम्बन—यह नाटक सं० १९३९ में बनाया गया। यह संस्कृत के प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के तृतीय अङ्क का भाषानुवाद है। इसमें कुल ११ पृष्ठ हैं।

धनंजयविजय—यह कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य में तथा पद्य का पद्य में अनुवाद किया गया है। इस अनुवाद में मौलिकता का आनन्द आता है।

कर्पूर मंजरी—यह राजशेखर कृत प्राकृत ग्रंथ का अनुवाद है। इसमें प्रेम कहानी है, साथ ही हास्य रस की अधिकता है। नमूने के कुछ उद्धरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

राजा—(आश्चर्य से) अहा हा ! जैसे रूप का ख़ज़ाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गये, यह रूप, यह जोवन, यह चितवन, यह भोलापन, कुछ कहा नहीं जाता, मालूम होता है कि यह नहाकर बाल सुखा रही

थी उसी समय पकड़ आई है। अहा! धन्य है इसका रूप!!! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है। इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती हैं। अहा! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं वह ऐसी मालूम होती हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं। काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहाने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गये हैं। बाल हाथों में लिये हैं उससे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं मानो चन्द्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनी को ऐसा दबाया कि उनकी पूँछ से अमृत बहा जाता है। भींगे वस्त्र से छोटे छोटे इसके कठोर कुच अपनी ऊँचाई और श्यामलताई से यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी जाँघें इसके चिपके हुए भींगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं तो भी यह उनको दबाये देती है, परंच इसी अंग के उघरने से यह लजा कर सकपकानी सी भी हो रही है, और योगबल से खिंच आने से कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो होकर भूले हुए मृगछौने की भाँति अपने चञ्चल नेत्र नचाती है!

× × × ×

विचक्षणा—गोरे तन कुमकुम सुरँग, प्रथम न्हवाई बाल।
राजा—सो तो जनु कंचन तप्यो, होत पीत सों लाल॥
विच॰—इन्द्रनीलमणि पैंजनी, ताहि दई पहिराइ।
राजा—कमल कली जुग घेरिकै, अलि मनु बैठे आय॥
विच॰—सजी हरित सारी सरिस, जुगल जंघ बहँ घेरि।
राजा—सो मनु कदली पात निज, खंभन लपट्यो फेरि॥
विच॰—पहिराई मनि किंकनी, छीन मुकटि तट लाय।
राजा—सो सिंगार मंडप बँधी, बंदनमाल सुहाय॥
विच॰—गोरे कर कारी चुरी, चुनि पहिराई हाथ।
राजा—सो साँपिन लपटी मनहुँ, चंदन शाखा साथ॥

विच०—निज कर सों बाँधन लगी, चोली तब वह बाल।
राजा—सो मनु खींचत तीर,मट, तरकस ते तेहि काल॥
विच०—लाल कंचुकी में उगे, जोवन जुगल लखात।
राजा—सो मानिक संपुट बने, मन चोरी हित गात॥
विच०—बड़े बड़े मुक्तान सों, गल अति सोभा देत।
राजा—तारागण आये मनौ, निज पति ससि के हेत॥
विच०—करनफूल जुग करन मैं, अति ही करत प्रकास।
राजा—मनु ससि लै द्वै कुमुदिनी, बैठ्यो उतरि अकास॥
विच०—बाला के जुग कान में, बाला सोभा देत।
राजा—स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ, पियत मकर करि हेत॥
विच०—जिमि हुँ रजन खंजन दृगनि, अंजन दियो बनाय।
राजा—मनहुँ सान फेरयौ मदन, जुगन बान निज लाय॥
विच०—चोटी गुथि पाटी सरस, करिकै बाँधे केस।
राजा—मनहुँ सिंगार इकत्र है, बँध्यो वार के बेस॥
विच०—बहुरि उढ़ाई ओढ़नी, अतर सुवास बसाय।
राजा—फूल लता लपटी किरिन, रवि ससि की मनु आय॥
विच०—एहि विधि सों भूषित करी, भूषण बसन बनाय।
राजा—काम बाग झालरि लई, मनु बसंत ऋतु पाय॥

मुद्राराक्षस—यह विशाखदत्त-कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद है। इसमें भी गद्य का गद्य में तथा पद्य का पद्य में अनुवाद किया गया है। भारतेंदु द्वारा किये गये अनुवाद-ग्रंथों में यह सर्वोत्तम है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—यह मौलिक नाटकों में सबसे पहले (सं०१९३०) में लिखा गया था, जब कि भारतेंदु जी की आयु केवल २३वर्ष की थी। इस प्रहसन में मदिरा तथा मांस सेवन करनेवालों की पोल खोली गई है और विधवा-विवाह के संबंध में व्यंग्य से टीका-टिप्पणी भी की गई है। भारतेंदु जी ने इसमें तत्कालीन

ाज सुधारकों की पर्याप्त दिल्लगी की है। इस पुस्तक में हास्यरस अच्छा मिश्रण है। नमूना नीचे दिया जाता है—

स्थान—यमपुरी

(यमराज बैठे हैं और चित्रगुप्त पास खड़े हैं)

यमराज—भला पुरोहित के कर्म्म तो सुनाओ।

चित्र०—महाराज, यह शुद्ध नास्तिक है, केवल दंभ से यज्ञोपवीत है, यह तो इसी श्लोक के अनुरूप है—

अंतः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

इसने शुद्ध चित्त से ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, जो जो राजा ने उठाये उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणामात्र दे दीजिये फिर जो ो उसी में पण्डितजी की सम्मति है, केवल इधर-उधर कमंडलाचार इसका जन्म बीता और राजा के संग से मांस मद्य का भी बहुत किया, सैकड़ों जीव अपने हाथ से वध कर डाले।

यम०—(पुरोहित से) बोल बे ब्राह्मणाधम! तू अपने अपराधों या उत्तर देता है?

ुरोहित—महाराज, मैं क्या उत्तर दूँगा, वेद पुराण सब उत्तर देते हैं।

यम०—लगें कोड़े, दुष्ट वेद-पुराण का नाम लेता है।

ूत—जो आज्ञा (कोड़े मारता है)।

ुरोहित०—दुहाई दुहाई, मेरी बात तो सुन लीजिए। यदि मांस ुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो मांस ही है; और अन्न क्यों हैं, अन्न में भी तो जीव है; और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में ान क्यों लिखा है; और महाराज, मैंने जो बकरे खाए वह जगदम्बा ाने बलि देकर खाए, अपने हेतु कभी हत्या नहीं की, और न अपने

राजा साहब की भाँति मृगया की। दुहाई, ब्राह्मण स्वयं पीया जाता है और महाराज, मैं अपनी सफाई के हेतु बाबू राजेन्द्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि माँस की कौन कहे गोमांस खाना और मद्यपीना कोई दोष नहीं, आगे के हिंदू सब खाते पीते थे। आप चाहिए एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मँगा के देख लीजिये।

सत्यहरिश्चन्द्र—भारतेन्दु जी की यह सर्वोत्तम कृति है। इस नाटक में राजा हरिश्चन्द्र की सत्य परीक्षा का वर्णन है। यह नाटक आर्यक्षेमेश्वर कृत संस्कृत के "चण्डकौशिकम्" नाटक के आधार र बना है। कुछ स्थानों पर यह उसका अक्षरशः अनुवाद है और छ स्थानों पर भावानुवाद। काशी वर्णन इत्यादि स्थान भारतेन्दु अपने हैं। इसके अतिरिक्त कथानक के प्रारम्भ में भारतेन्दु ने न्द्रसभा का दृश्य जोड़ कर नाटक के कथानक को उससे भी धिक मनोरंजक बना दिया है। इसकी कथा इस प्रकार है—

राजा हरिश्चन्द्रकी सत्यप्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वप्न में थिवी दान देने पर दान-पात्र के न मिलने से वे व्याकुल होगये र सोचने लगे कि इसका क्या प्रबंध करें। उसी समय एक क्रोधी पि—विश्वामित्र—आ पहुँचा। यह दान नहीं लेना चाहता वरन् रिश्चन्द्र की परीक्षा लेना चाहता है। वह इसी कारण राजा को ना प्रलोभन और कष्ट देता है, पर वह सत्य-प्रतिज्ञ उस कठिन क्षा में पूरा उतरा। उसकी आदर्श सत्य-प्रियता, अनुकरणीय प्रतिज्ञता को देख कर क्रूर परीक्षक को भी नीचा देखना पड़ा।

सत्यहरिश्चन्द्र मुख्यतया वीर रस का नाटक है परन्तु इसमें त्स तथा करुणा रस का भी बड़ा बढ़िया परिपाक हुआ है। त्स रस का ऐसा वर्णन शायद किसी संस्कृत नाटक में भी नहीं गा। विश्वामित्र का ऋण के लिए तकाजा, हरिश्चन्द्र का अपने

आपको और अपनी रानी को बेचना, रोहिताश्व के मरने पर राजा-रानी का विलाप, गंगा तथा श्मशान का वर्णन इत्यादि स्थल बहुत उत्कृष्ट तथा स्वाभाविक हैं।

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्ता-मणि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन-मन विविध, मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस, सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान, त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरिपद-नख-चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरबस॥
शिव-सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल।
ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारण।
अगिनित धारा रूप धारि सागर संचारण॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हूँ नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट, उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम, चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहूँ सुंदरी नहात, बारि कर-जुगुल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्तगुच्छ, मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि बदन, करन अति ही छवि पावत।

बारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत ॥
सुन्दरि ससि मुख नीर, मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमल बेलि लहलही, नवल कुसुमन मन मोहत ॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई ।
गंगा-छवि हरिचन्द, कछू बरनी नहि जाई ॥

\+ + +

अहा ! मरना भी क्या वस्तु है !

सोई मुख जेहि चन्द बखान्यौ ।
सोई अँग जेहि प्रिय करि जान्यौ ॥
सोई भुज जे प्रिय गर डारें ।
सोइ भुज जिन नर विक्रम पारे ॥
सोई पद जिहि सेवक वंदत ।
सोई छवि जेहि देखि अनन्दत ॥
सोइ रसना जहँ अमृत बानी ।
जेहि सुनिकै हिय नारि जुड़ानी ॥
सोइ हृदय जहँ भाव अनेका ।
सोई सिर जहँ निज बच टेका ॥
सोई छवि-मय अंग सुहाए ।
आज जीव बिनु धरनि सुहाए ॥
कहाँ गई वह सुन्दर सोभा ।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा ॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत ।
ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत ॥
फूल बोझ हू जिन न सहारे ।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे ॥

खाने को कुत्ते और सियार लड़ लड़ कर कोलाहल मचा रहे हैं।

× × × ×

शै०—(रोती हुई) हाय बेटा! अरे आज मुझे किस ने लूट लिया! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय अब मैं किस का मुँह देख के जीऊँगी! हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा, तू तो मरे पर भी सुन्दर लगता है! हाय रे! अरे बोलता क्यों नहीं! बेटा, जल्दी बोल, देख, माँ कब की पुकार रही है! बच्चा! तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़ कर गले में लपट जाता था, क्यों नहीं बोलता? (शव को बार-बार गले लगाती देखती और चूमती है)

ह०—हाय हाय! इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता।

शै०—(पागल की भाँति) अरे यह क्या हो रहा है! बेटा, कहाँ गये हो? आओ जल्दी। अरे अकेले इस मसान में मुझे ड लगता है, यहाँ मुझको कौन ले आया है? रे बेटा,! जल्दी आओ अरे, क्या कहते हो, मैं गुरु को फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप मुझे काट लिया! हाय! हाय रे!! अरे कहाँ काट लिया? अरे को दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ जो जिलावे बचे को। अरे वह साँ कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता? काट रे काट, क्या उस सुकुँआ बचे ही पर बल दिखाना था? हमें काट। हाय! हमको नहीं काटता अरे यहाँ तो कोई साँप-वाँप नहीं है। मेरे लाल झूठ बोलना कब से सीखे? हाय हाय! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते बेटा, गुरुजी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है देखो, बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब औ बेलपत्र। हाय! हमने इतना पुकारा तुम कुछ नहीं बोलते! (ज़ोर से बेटा, साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आये; तुम अब तक

क्यों नहीं आये ? (आगे शव देखकर) हाय हाय रे, अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया ! हाय लाल ! हाय रे ! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया ! हाय, मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया ! बेटा ! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया ? हाय, मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया ! हाय, मेरी कोख में किसने आग लगा दी ! हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल लिया ! (चिल्ला चिल्ला कर रोती है) हाय, लाल कहाँ गये ? अरे ! अब मैं किसका मुँह देखकर जिऊँगी रे ? हाय ! अब माँ कहके कौन पुकारेगा ? अरे आज किस बैरी की छाती ठंडी भई रे ? अरे, तेरे सुकुँआर अंगों पर भी काल को तनिक दया न आई ! अरे बेटा ! आँख खोलो। हाय ! मैं सब बिपत तुम्हारा ही मुँह देख कर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी। अरे लाल ! एक बेर तो बोलो ! (रोती है)।

हाय ! यह बिपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा। अरे छलिया मुझे छल कर कहाँ भाग गया ! (देखकर) अरे आयुष की रेखा तो इतनी लंबी है, फिर अभी से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा ! अरे ऐसा सुंदर मुँह, बड़ी बड़ी आँख, लंबी लंबी भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब-सा रंग ! हाय मरने के तुझ में कौन-से लच्छन थे जो भगवान् ने तुझे मार डाला ! हाय लाल ! अरे बड़े बड़े जोतसी-गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत दिन जियेगा सो सब झूठ निकला ! हाय ! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया ! हाय ! तुम्हारे बाप का कठिन पुन्य भी सहाय न हुआ और तुम चल बसे ! हाय !

चंद्रावली—भारतेंदु की यह सर्वथा मौलिक रचना है। इसमें चंद्रावली का भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम वर्णित है। संपूर्ण नाटिका आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। इसका संस्कृत तथा व्रज-भाषा में भी अनुवाद हुआ था और यह स्वयं भारतेंदुजी को भी

बहुत प्रिय थी। इस नाटिका की भाषा बड़ी ही मधुर तथा परिमार्जित है तथा इस में उज्ज्वल प्रेम का बड़ा ही सुन्दर चित्र चित्रित किया गया है। भाषा तथा भाव की दृष्टि से इतनी उच्च होने पर भी इस नाटिका में नाटकीय दृष्टि से कई दोष पाये जाते हैं। विशेषतः स्टेज पर खेलने में यह ऐसी मनोरंजक न होगी क्योंकि इस में विषय परिवर्तन बहुत कम है। स्टेज की दृष्टि से अन्य बहुत सी बातों का भी इस में अभाव है। नमूने के कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं।

पिय तोहि राखौंगी भुजन में बाँधि।
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिए सों नाँधि॥
बाहर गर लगाइ राखौंगी अन्तर करौंगी समाधि।
हरीचंद छूटन नहिं पैहौ लाल चतुराई साधि॥
पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय ?
सुंदर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय।
नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरे मैं मनहूँ के अंतर कैसे लेउँ लुकाय॥
मेरो भाग रूप पिय तुमरो छीनत सौतें हाय।
हरीचंद जीवन धन मेरे छिपत न क्यौं इत धाय॥
पिय तुम और कहूँ जनि जाहु।
लेन देहु किन मो रंकिन को रूप-सुधा रस लाहु॥
जो जो कहौ करौं सोइ-सोई धरि जिय अमित उछाहु।
राखौं हिये लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु॥
अनुदिन सुंदर बदन सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
हरीचंद पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु॥
पिय तोहि कैसे बस करि राखौं।
तुव दृग मैं दृग हिय मैं निज हियरो केहि बिधि राखौं॥

कहा करौं का जतन विचारौं बिनती केहि विधि भाखौं।
हरीचंद प्यासी जनमन की अधर-सुधा किमि चाखौं॥

भारतदुर्दशा—इस नाटक से भारतेन्दु का अपार देश-प्रेम तथा उनकी उत्कृष्ट और जोरदार कविता करने की शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट होती है। इसमें बड़ा ही उग्र तथा हृदयग्राही वर्णन है। भारत की वर्त्तमान दुरवस्था एवं उसके कारणों का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है। फूट, वैर, कलह, सुस्ती, खुशामद, कायरता, बहुधर्म छूआछूत, वाद विवाद इत्यादि की पर्याप्त निंदा की गई है।

नाटक में पहले भारत के प्राचीन गौरव का दृश्य दिखा कर उसके बाद भारतदुर्दैव तथा सत्यानाश फौजदार का प्रवेश होता है। उनकी बातचीत में भारत की अवनति के कारणों का अत्यन्त रोचक वर्णन है। तदनन्तर रोग आलस्य आदि प्रवेश करते हैं। भारत में इन्हों ने कितना और कैसे घर कर लिया है, यह उनके मुँह से ही कहलाया गया है। फिर भारत के उद्धार के लिए कुछ देशभक्त सभ्यों की सभा होती है जिसमें बंगाली, महाराष्ट्र, सम्पादक तथा कवि विद्यमान हैं। सभा में उनके व्याख्यान होते हैं और देशोद्धार के प्रस्ताव बड़े मनोरञ्जक रीति से पेश किये गये हैं। प्रायः सभी स्थानों पर हास्य-प्रद वर्णन किया गया है परन्तु फिर भी उस में गूढ़ व्यंग्य उपस्थित है। दो तीन नमूने नीचे दिये जाते हैं।

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥ ध्रुव॥
सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सब के पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सब के पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सब के पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।

हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥
जहँ भए शाक्य हरिचन्द्र नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती ॥
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥
लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी ॥
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी।
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी ॥
भए अंध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥
अंगरेज-राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री ॥
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥

× × × ×

आलस्य—हहा ! एक पोस्ती ने कहा "पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस।" दूसरे ने जवाब दिया, "अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी तो या कूँडी के उस पार या इस पार।" ठीक है, एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और .. राह से एक सवार जाता था। पहिले ने पुकारा "भाई सवार सवार, पका आम टपक कर मेरी छाती पर पड़ा है, जरा मेरे मुँह में तो

डाल दो।" सवार ने कहा "अजी तुम बड़े आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है सिर्फ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में यह आलस्य है।" दूसरा बोला "ठीक है साहब, यह बड़ा ही आलसी है। रात भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया और यह पास ही पड़ा था प इसने न हाँका।" सच है किस जिंदगी के वास्ते तकलीफ उठाना, म में हालमस्त पड़े रहना। सुख केवल हम में है "आलसी पड़े कुएँ वहीं चैन है।"

(गाता है)

दुनियाँ में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥
बिस्तर पै मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बन्दर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
"रहने दो जमीं पर मुझे आराम यहीं है।"
छेड़ो न नक्शेपा हैं मिटाना नहीं अच्छा॥
उठ करके घर से कौन चले यार के घर तक।
"मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा॥"
धोती भी पहिने जब कि कोई गैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ-पैर चलाना नहीं अच्छा॥
सिर भारी चीज़ है इसे तकलीफ़ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा॥
फाकों से मरिये पर न कोई काम कीजिये।
दुनियाँ नहीं अच्छी है ज़माना नहीं अच्छा॥
सिज़दे से गर बिहिश्त मिले दूर कीजिये।
दोज़ख ही सही सिर का झुकाना नहीं अच्छा॥
मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरेफर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥

(सात सभ्यों की एक कमेटी, एक सभापति, एक बंगाली, ए
महाराष्ट्र, एक एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय)

सभापति—(खड़े होकर) सभ्यगण ! आज की कमेटी का मुर
उद्देश्य यह है कि भारतदुर्दैव की, सुना है कि, हम लोगों पर चढ़ाई है
इस हेतु आप लोगों को उचित है कि मिलकर ऐसा उपाय सोचिए कि
जिस से हम लोग भावी आपत्ति से बचें। जहाँ तक हो अपने देश की
रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है। आशा है कि आप सब
लोग अपनी अपनी अनुमति प्रकट करेंगे। (बैठ गये, करतलध्वनि)

बंगाली—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला बहुत
ठीक है। इसका पेशतर कि भारत दुर्दैव हम लोगों का सिर पर आ पड़े
कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु प्रश्न
एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता है, कि हमारा बोर्ज्जोबल के
बाहर की बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शाकैगा, परन्तु जो सब
लोग एकमत होगा। (करतल ध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका
अनेक उपाय शाधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन लीग
इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता हम लोग
मिल के बड़ा गोल करते हैं। गवर्नमेन्ट तो केवल गोल-माल से भय
खाता और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुआँ का अखबार वाला
सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंट को अलबत्त शुनने होता।
किन्तु इहाँ, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज सब आप सभ्य
लोग एकत्र है, कुछ उपाय इस का अवश्य शोचना चाहिए। (उपवेशन)

प० देशी—(धीरे से) यहीं, मगर जब तक कमेटी में हैं तभी
तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।

दू० देशी—(धीरे से) क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से
कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे।

एडिटर—(खड़े होकर) हम अपने प्राणपण से भारत दुर्दैव को

हटाने को तैयार हैं। हमने पहले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था परन्तु यहाँ तो कोई सुनता ही नहीं। अब जब सिर पर आफत आई तो आप लोग उपाय सोचने लगे। भला अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है जो कुछ सोचना हो जल्द सोचिए। (उपवेशन)

कवि (खड़े होकर) मुहम्मद शाह से भाँड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्हीं ने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमना-किनारे कनात खड़ी कर दी जाएँ। कुछ लोग चूड़ी पहिने कनात के पीछे खड़े रहें, जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमका कर कहें "मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं" बस दुश्मन हार जायँगे। यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय?

बंगाली—(खड़े होकर) अलबत्त, यह भी एक उपाय है किन्तु असभ्यगण आकर जो स्त्री लोगों का विचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो (उपवेशन)

एडि०—(खड़े होकर) हमने दूसरा उपाय सोचा है, एडुकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायँ। आप लोग क्या कहते हैं? (उपवेशन)

(डिसलायल्टी का—पुलिस की वर्दी पहिने प्रवेश)

सभापति—(आगे से ले आ कर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ लाई हैं? कुछ हम लोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायल्टी—नहीं, नहीं, तुम सब सरकार के विरुद्ध एकत्र हुए हो हम तुम को पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सरकार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला? व्यर्थ का

विभीषिका।

डिस०—हम क्या करें, गवर्मेंट की पालिसी यही है। कविवच सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उस पकड़ने को हम भेजे गये ? हम लाचार हैं।

दू० देसी—(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं, ह तमाशा देखने आए थे।

महा०—हाय हाय ! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष हैं इस में भय की कौन बात ! कानूनी है।

सभापति—तो पकड़ने का आप को किस कानून से अधिकार है!

डिस०—इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।

महा०—परन्तु तुम ?

दू० देसी—(रोकर) हाय-हाय ! भटवा तुम कहता है अब मरे।

महा०—पकड़ नहीं सकतीं, हम को भी दो हाथ दो पैर हैं। चलो हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं, सवाल जवाब करेंगे।

बंगाली—हाँ चलो, ओ का बात—पकड़ने नहीं सेकता।

सभा०—(स्वगत) चेयरमैन होने से पहले हमीं को उत्तर देना पड़ेगा; इसी से किसी बात में हम अगुआ नहीं होते।

डिस०—अच्छा चलो। (सब चलने की चेष्टा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

विषस्य विषमौषधम्—इस में श्री महाराज मल्हारराव गायकवाड़ बड़ौदाधीश को सरकार द्वारा सिंहासन-च्युत किये जाने का ...क हास्यमय वर्णन है। यह प्रायः गद्य में ही लिखा गया ...र केवल ९ पृष्ठों का ही ग्रंथ है।

नीलदेवी—भारतीय स्त्री समाज की उन्नति, वर्त्तमान हीनावस्था ... प्रचलित कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से

यह छोटा सा नाटक लिखा गया है। इसकी कथा इस प्रकार है—

पंजाब का राजा सूर्यदेव अब्दुश्शरीफ सूर से लड़ाई में हार जाने पर पकड़ा जाता है और मुसलमानों द्वारा जेल में उसकी हत्या की जाती है। पति के विरह से दुःखित रानी नीलदेवी एक नर्त्तकी के वेश में मुसलमान अमीर के खेमे में जाती है। अमीर उसके रूप तथा लावण्य पर मोहित होजाता है। ऐसे समय में उसे शराब में मस्त देख कर वीराङ्गना नीलदेवी वहीं तलवार द्वारा उसे यम-लोक में पहुँचा देती है। इस में वीर रस का अनुपम वर्णन है:—

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि सजि रनकंकन बाँधौ॥
जौ आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृहकलहहिं अपनी कुल मरजाद बिचारैं॥
तौ ये कितने नीच कहा इन को बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी॥
पदतल इन कहँ दलहु कीट तिन सरिस जवन-चय।
तनिकहुँ संक न करहु धर्म्म जित जय तित निश्चय॥
आर्य्य वंश को बधन पुण्य जा अधम धर्म्म में।
गोभक्षण द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म्म में॥
तिनको तुरतहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किये हूँ पुण्य सदाहीं॥
चिउँटिहु पदतल दबे डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतछ अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जे आर्य्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु संबन्ध निबाहैं॥

उठहु बीर तरवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह-लेखनी लिखहु आर्य-बल जवन-हृदय पर॥
मारू बाजे बजैं कहौ धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका सत्रु-हृदय लखि-लखि थहराहीं॥
चारन बोलहिं आर्य्य-सुजस बंदी गुन गावैं।
छुटहिं तोप घनघोर सबै बंदूक चलावैं॥
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
छन महँ नासहिं आर्य्य नीच जवनन कहँ करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

अंधेर नगरी—भारतेंदु ने यह प्रहसन केवल एक ही दिन में लिखा था। हास्य रस के साथ देश की वर्तमान स्थिति का चित्र इसमें स्थान स्थान पर अंकित किया गया है। इस प्रहसन में सौदा बेचने वालों का दृश्य बड़ा ही मनोरञ्जक है:—

चूरन अमलबेद का भारी। जिस को खाते कृष्ण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालेदार। जिस में खट्टे की बहार॥
मेरा चूरन जो कोई खाय। मुझ को छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिन्दू चूरन इस का नाम। विलायत पूरन इस का काम॥
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा। कीना दाँत सभी का खट्टा॥
चूरन चला दाल की मंडी। इस को खाएँगी सब रंडी॥
चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥
चूरन नाटक वाले खाते। इसकी नकल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खाते लाला लोग। जिन को अकिल अजीरन रोग॥

चूरन खावें एडिटर जात। जिन के पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥

सतीप्रताप—यह एक अपूर्ण नाटक था, जिसे बाबू राधाकृष्ण दास ने पूर्ण किया। भारतेन्दु ने अपना हिस्सा १९४० में लिखा। इसमें पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री की कथा है। पातिव्रत्य का अनुपम चित्र तथा उसका बढ़िया फल दिखाया गया है।

प्रेम योगिनी—यह ग्रंथ भारतेन्दुजी ने सं० १९३२ में लिखना शुरू किया, पर पता नहीं क्यों अधूरा रह गया। उन्होंने इसका केवल प्रथम ही अंक लिखा है पर इसमें काशी की स्तुति तथा निन्दा बड़ी बढ़िया कही है।

इसकी प्रस्तावना में भारतेन्दुजी ने अपने बारे में निम्न लिखित शब्द कहे हैं—जिनसे उनके तात्कालिक आर्थिक कष्टों तथा अन्तिम समय की कष्टकर जीवनी का बहुत कुछ पता लगता है:—

सूत्र०—क्या नाटक खेलें क्या न खेलें, लो इसी खेल ही में देखो क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिंदी का एक मात्र जनक, भाषा नाटकों का एक मात्र जीवन-दाता, हरिश्चन्द्र ही दुखी हो। (नेत्र में जल भर कर) हा सज्जन-शिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना।' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत से विपरीत गति चलके तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है।

नाटक—इन नाटकों के अतिरिक्त "नाटक" नामक रीति ग्रंथ भी इसी भाग में सम्मिलित है। इसमें नाटक रचना के नियमों तथा अन्य जानने योग्य बातों का विशद वर्णन किया गया है।

द्वितीय भाग (इतिहास समुच्चय)

इस भाग में भारतेंदु द्वारा लिखे जीवन-चरित्र तथा इतिहास संबन्धी निबंध तथा पुस्तकों का संग्रह है। यह भाग भारतेंदु के इतिहास-प्रेम को सूचित करने के लिए पर्याप्त है। हिन्दी के अन्य किसी सत्कवि ने इतिहास की ओर ध्यान नहीं दिया। इनसे पूर्व के प्रायः सब कवि जातीयता तथा जातीय इतिहास से सर्वथा पराङ्मुख थे। अतः उत्कृष्ट कविता के साथ-साथ भारतेंदु का इस ओर भी ध्यान देना उनकी महत्ता को द्विगुणित कर देता है। इस भाग में निम्नलिखित निबंध तथा पुस्तकें संग्रहीत हैं।

१ काश्मीर कुसुम, २ महाराष्ट्र देश का इतिहास, ३ रामायण-कालीन घटनाओं पर विचार, ४ अगरवालों की उत्पत्ति, ६ बादशाह-दर्पण, ७ उदयपुरोदय, ८ पुरावृत्त संग्रह, ९ चरितावली १० पंचपवित्रात्मा, ११ दिल्ली दरबार दर्पण, १२ कालचक्र।

इनमेंसे चरितावली, काश्मीर कुसुम, पुरावृत्त संग्रह, पंचपवित्रात्मा, कालचक्र तथा उदयपुरोदय विशेष उल्लेखनीय है।

काश्मीर कुसुम में इतिहास का अभाव, राजतरंगिणी का चार भागों में बनना, उसकी समालोचना, हर्षदेव का कथन और काश्मीरके वर्तमान राजघराने का वर्णन है।

चरितावली में विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकर, पुष्पदन्ताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नैपोलियन, जंगबहादुर द्वारकानाथ मित्र, श्रीराजाराम शास्त्री, लार्ड मेयो, लार्ड लारेन्स और तृतीय सिकन्दर जार के चरित्र दिये गये हैं।

पंच पवित्रात्मा में मुहम्मद, अली, बीबी फातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसैन के जीवनचरित्र दिये गये हैं।

उदयपुरोदय में उदयपुरका इतिहास, कालचक्र में संसार की बड़ी घटनाओं का समयनिरूपण तथा पुरावृत्त संग्रह में स्फुट

ऐतिहासिक विषय एवं दानपत्र आदि का वर्णन है।

तृतीय भाग (राजभक्ति-सूचक काव्य)

इस भाग में ईजिप्ट-विजय, अफगान युद्ध, ड्यूक आफ एडिनवरा का विवाह, युवराज-स्वागत, युवराज एडवर्ड की प्रशंसा इत्यादि विषयों पर की गई राजभक्ति-पूर्ण कविताओं का संग्रह है। जिसमें बहुत सी भारतेंदु की स्वयं बनाई हुई, और कुछ उनके प्रोत्साहन द्वारा बनी हुई अन्य कवियों की कविताएँ हैं। इस भाग का काव्य या तो शिथिल है या साधारण है। इसमें उत्तम कविता का प्रायः अभाव है।

चतुर्थ भाग (भक्त-सर्वस्व)

इसमें भारतेंदुकृत भक्तिरस की कविता तथा अन्य धार्मिक विषयों पर गद्य लेख हैं। इस भाग की कविता भी साधारण है। इसमें निम्नलिखित ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

१ चरण-चिन्ह—यह ग्रंथ दोहे और छप्पय में लिखा गया है। इसमें देवताओं और भक्तों के चरण चिन्हों का वर्णन है।

२ युगल सर्वस्व—इसमें गद्य-पद्य द्वारा भगवान् कृष्ण, नन्द यशोदा और अन्य सखी सहचरी आदि का अति रोचक वर्णन किया गया है।

३ भक्तमाल (उत्तरार्द्ध)—इसमें नाभादास के पीछे के भक्तों का वर्णन है। इसकी कविता बिलकुल नाभादास रचित 'भक्तमाल' की कविता की सी है।

४ गीतगोविन्दानन्द—यह जयदेव कवि प्रणीत "गीतगोविन्द" का भाषानुवाद है।

पंचमभाग (काव्यामृतप्रवाह)

इस भाग में प्रेम-प्रधान कविताएँ हैं। भारतेंदु की नाटकावली के बाद कविता की दृष्टि से यही भाग प्रशंसनीय है। भारतेंदु प्रेमी

व्यक्ति थे। इस भाग की कविता में उन्होंने अपने हृदय-पट का ही जीवित-चित्र खींच कर रख दिया है।

इस में कुल १८ काव्य ग्रंथ हैं जिन में "सतसई सिंगार" तथा "कृष्ण चरित्र" विशेष उल्लेखनीय हैं।

"सतसई सिंगार" में महाकवि बिहारी के ८५ दोहों पर ८५ कुण्डलियाँ लिखी हैं, अर्थात् एक एक दोहे का भाव लेकर एक एक कुण्डलिया बनाई गई है।

शेष पुस्तकों में पद सवैये तथा घनाक्षरियों की अधिकता है। साथ ही इन पुस्तकों में कई भाषाओं का प्रयोग किया गया है पर विषय वही एक—प्रेम—ही है।

षष्ठभाग (फुटकर)

यह भाग अन्य भागों से बड़ा है, पर इसमें भारतेन्दु के पसन्द किये हुए अन्य कवियों के बनाये हुए ग्रंथ ही अधिकतर हैं।

साहित्य-समीक्षा

ऊपर हम भारतेंदु की सब कृतियों का संक्षेप से परिचय दे चुके हैं। अब हम उनकी कृतियों की विशेषताओं तथा उनकी कविता के गुणों पर दृष्टिपात करने का प्रयत्न करेंगे।

१ देश तथा जातिप्रेम—भारतेंदु की सब से प्रथम विशेषता यह है कि वे जातीय कवि थे। उन्हें सदा हिन्दी हिन्दू और हिन्दुस्तान का ध्यान रहता था। चाहे कैसा ही अवसर हो और चाहे किसी प्रकार की रचना की आवश्यकता हो, भारतेंदु अपने देश को नहीं भूलते, एक फिर कर उन्हें इसके पूर्व गौरव, वर्तमान अवस्था और भविष्य का ध्यान आ ही जाता है सम्बन्धी अपने हृदयोद्गारों को रोक नहीं सकते। के समान हिन्दुस्तान के रोगों पर आँसू बहाने वाला, उन्हें

महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य कवि उस समय तक हिंदी-साहित्य में न हुआ था। उनके नीलदेवी तथा भारत दुर्दशा आदि नाटक तो केवल इसी उद्देश्य से ही लिखे गये थे, पर अन्य नाटकों में भी उन्होंने देश तथा जाति को नहीं भुलाया।

२ हिंदी गद्य तथा नाटक के जन्मदाता—भारतेंदु के समय तक अधिकतर हिंदी-साहित्य में पद्य की ही प्रबलता थी। कवियों तथा लेखकों का ध्यान गद्य की ओर नहीं गया था। भारतेंदु से कुछ ही पूर्व सैयद इंशा अल्लाह, लल्लूलाल, सदलमिश्र और राजा शिवप्रसाद आदि गद्य-लेखक हुए थे पर वे हिंदी-गद्य के किसी ख़ास रूप को निश्चित करने में समर्थ नहीं हुए। एक ओर लल्लूलाल गद्य में भी ब्रजभाषा मिश्रित पद्यात्मक-भाषा का प्रयोग करते हैं। दूसरी ओर राजा शिवप्रसाद की भाषा में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की भरमार है और वाक्य-रचना भी फ़ारसी-व्याकरण के अनुसार होती है। तीसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह की शैली ही निराली है, वे—पद्य की कौन कहे—गद्य में भी उर्दू-फ़ारसी के शब्दों से इतना दूर रहते हैं जितना एक मद्रासी ब्राह्मण एक अछूत से। अंत में भारतेंदु हरिश्चंद्र ही गद्य को अनिश्चितता के कीचड़ से निकाल कर एक निश्चित रूप देते हैं। उसी का अनुकरण कर आज हिंदी की इतनी वृद्धि हुई है। अतः भारतेंदु ही आधुनिक हिंदी-गद्य के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

हिंदी में नाट्य-साहित्य की नींव भी भारतेंदु ने ही डाली है। भारतेंदु का कहना है कि हिंदी का पहला नाटक उनके पिता बाबू गोपालचंद्र उपनाम 'गिरिधरदास' का बनाया हुआ "नहुप नाटक" है। पर वह साधारण बोलचाल की हिंदी में नहीं वरन् ब्रजभाषा में है। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह ने कवि-कुल-गुरु कालिदास के शकुंतला नाटक का अनुवाद किया। भाषा की दृष्टि

से अत्युत्तम होने पर भी वह मौलिक नहीं है। इसलिए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की कृतियों से ही हिंदी में नाट्य-साहित्य का प्रारंभ होता है। इसी नाट्य-कथा तथा काव्यरस का आस्वादन करा के ही भारतेंदु ने अपने समय के शिक्षित-समाज के ताटस्थ्य को दूर कर उसकी रुचि हिंदी-साहित्य की ओर प्रवृत्त की।

नाट्य-साहित्य की नींव डालने के साथ साथ भारतेंदु ने उस में कुछ नवीनता भी उत्पन्न की। उन्होंने अपने नाटकों में न तो प्राचीन भारतीय नाटकों के नियमों का पूरी तरह से अनुसरण किया और न योरोपीय नाटक-प्रणाली का ही। प्रत्युत दोनों के बीच की प्रणाली को ही उन्होंने पकड़ा।

वे एक निपुण लेखक तथा कुशल कवि थे। इसलिए प्राचीन नियमों का अनुसरण न करने पर भी उनके नाटकों में शैथिल्य दोष नहीं आया। बिल्कुल प्राचीन नियमों पर चलना—लकीर के फ़कीर होना—उन्हें पसंद भी न था। जो प्राचीन नियम आधुनिक समाज की रुचि के विरुद्ध नहीं थे उन्हीं को उन्होंने अपनाया, शेष नियमों का पालन उन्होंने अनावश्यक समझा। इसी सिद्धांत के अनुसार उन्होंने नाटक-रचना भी की। उनके सत्य-हरिश्चंद्र तथा नीलदेवी आदि नाटक बहुत ही उत्कृष्ट हैं और संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों की बराबरी कर सकते हैं।

३ भाषा की परिष्कृति—भारतेंदु जी ने जब नये नये विषयों पर अपनी क़लम उठाई तब उन्हें नये भावों तथा नये विषयों को प्रकट करने के लिए भाषा की नयी शैली, नये शब्दों और नये मुहावरों की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्राचीन ब्रजभाषा में एक तो इन भावों को प्रकट करना कठिन था दूसरे उनके पूर्ववर्ती कवियों ने शब्दों को तोड़ मरोड़ कर ब्रजभाषा को ऐसा रूप दे दिया था जो बोलचाल की

भाषा से बहुत दूर और जटिल हो गया था। इसीलिए नव्य-शिक्षित समाज हिंदी की अवहेलना करने लगा था। यही देखकर भारतेंदु ने बोलचाल की ही भाषा को अपनाया। गद्य तो उन्होंने बिल्कुल खड़ी-बोली में ही लिखा और पद्य की भाषा को भी बहुत कुछ सँवारने की कोशिश की। यद्यपि उनका पद्य व्रजभाषा में ही है तो भी उनकी भाषा वैसी जटिल नहीं जैसी उनके पूर्ववर्ती कवियों की है। इसके अतिरिक्त भारतेंदु की नाटकों की भाषा में जोर बहुत अधिक है। हिंदी-कवियों में बहुत कम की रचनाओं में वैसा जोर पाया जाता है। नीलदेवी और भारत-दुर्दशा में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे।

४ विविध विषय प्रतिपादकता—भारतेंदु विविध विषयों के वर्णन में बड़े सिद्ध-हस्त थे। अन्य हिंदी-कवियों की तरह उन्होंने केवल भक्ति या शृंगार रस को ही नहीं अपनाया अपितु प्रेम, भक्ति, प्रकृति-वर्णन, स्वदेश-प्रेम, इतिहास आदि सभी विषयों पर और हास्य, वीर, वीभत्स तथा करुणा आदि सभी रसों में अनूठी कविता की है। चंद्रावली नाटिका में प्रेम वर्णन; सत्य-हरिश्चंद्र में गंगा और श्मशान का वर्णन, हरिश्चंद्र की परीक्षा तथा शैव्या का विलाप इत्यादि स्थल अत्युत्कृष्ट हैं। इसी प्रकार नीलदेवी में वीररस तथा भारत-दुर्दशा में भारतोन्नति के लिए सभ्यों की कमेटी का दृश्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

५ हास्यरस—उपरिलिखित विशेषताओं के अतिरिक्त एक और बड़ी विशेषता यह है कि ये हास्यरस के बड़े कुशल लेखक थे। इनसे पहले हिंदी-साहित्य में यह रस अछूता ही रहा था, इन्होंने इस कमी को बहुत कुछ पूरा किया। बाद में अन्य कई लेखकों का ध्यान भी हास्यरस की कमी की ओर गया और उन्होंने इसे पूरा करने का प्रयत्न भी किया परंतु भारतेंदु जैसा सभ्य-जनोचित-

मुद्राराक्षस

हास्य और चुटीला व्यंग्य बहुत कम के लेखों में
नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इ
बढ़िया उदाहरण हैं।

भारतेंदु जी की कविता विशेषतः हिंदी औ
बनी है। हिंदी में उस समय जिस बात की कमी
की। गद्य लेखन-शैली निश्चित की, नाट्य-सा
भाषा का संशोधन किया, हिंदी-भाषा को विवि
ग्रन्थों से अलंकृत किया तथा हास्यरस की
रह भारतेंदु हिंदी-साहित्य के लिए कल्पवृक्ष

ग्रंथ-परिचय

मुद्राराक्षस शुद्ध ऐतिहासिक तथा राजनीतिक नाटक है। संस्कृत के अधिकांश अन्य नाटकों की तरह इसकी कहानी पुराण, महाभारत या रामायण से नहीं ली गई और न कवि की कोरी कल्पना मात्र है किन्तु यह शुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित है। नन्दों को मारने के बाद किस तरह चाणक्य, चन्द्रगुप्त का राज्य स्थापित और स्थिर करता है, यही दिखाना इसका उद्देश्य है। राजनीति की कुटिल चालों का ही इसमें विशेष रूप से दिग्दर्शन कराया गया है।

यह नाटक वीर-रस-प्रधान है। शृंगार और करुणा रस का इसमें बिलकुल अभाव है। हाँ, अद्भुत रस का परिपाक बहुत अच्छी तरह हुआ है। नाटक में कोई प्रमुख स्त्री पात्र भी नहीं रक्खा गया। केवल नाटक के अन्त में एक ही स्थान पर चंदनदास की स्त्री प्रवेश करती है। वह भी किसी नवयुवती प्रेमिका या मुग्धा वियोगिनी के रूप में नहीं वरन् प्रौढ़ा कर्तव्य-परायण महिला के रूप में ही।

नाटक का कथानक बहुत ही रोचक है। प्रथम अंक में जो उत्सुकता पैदा होती है, वह दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अंक में क्रमशः बढ़ती ही जाती है और अन्तिम अंक में आकर ही उसकी शान्ति होती है जहाँ कि सारा रहस्य प्रकट होता है। रहस्य इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि मन ज़रा भी नहीं ऊबता।

पात्रों के चरित्र चित्रण में कवि ने कमाल कर दिया है। चाणक्य तथा राक्षस इन दो कुटिल नीतिज्ञों तथा चंद्रगुप्त और मलयकेतु इन दो नवयुवक राजाओं के चरित्र चित्रण के अतिरिक्त ... चरित्र चित्रण में कवि उत्कृष्टता की चरम

मूल-ग्रंथकार का परिचय

प्रस्तुत हिंदी का मुद्राराक्षस नाटक महाकवि विशाखदत्त रचित संस्कृत नाटक का अनुवाद है। ये महाकवि विशाखदत्त कब और कहाँ हुए इसका कुछ पता नहीं लगता। नाटक की प्रस्तावना से केवल इतना ज्ञात होता है कि ये सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज पृथु के पुत्र थे। कई प्राच्य और पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने इनके समय तथा स्थान आदि के विषय में भिन्न-भिन्न अनुमान किये हैं, परंतु अभी तक किस निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँचे। अधिक विद्वानों का यही म है कि ये उत्तरी भारत में नवीं या दसवीं शताब्दी में पैदा हुए

साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि कालिदास और भवभूति क तरह प्रथम श्रेणी के नाटककारों में इनकी गणना नहीं की जा सकती, तो भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ये एक सफल नाटककार थे। कुटिल राजनीति के दाव-पेचों को जिस योग्यता से इन्होंने दिखाया है उससे प्रतीत होता है कि स्वयं भी कुशल राजनीतिज्ञ होंगे तथा राजनीति के दाव-पेचों ो भली-भाँति समझते होंगे।

ग्रंथ-परिचय

मुद्राराक्षस शुद्ध ऐतिहासिक तथा राजनीतिक नाटक है। संस्कृत के अधिकांश अन्य नाटकों की तरह इसकी कहानी पुराण, महाभारत या रामायण से नहीं ली गई और न कवि की कोरी कल्पना मात्र है किन्तु यह शुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित है। नन्दों को मारने के बाद किस तरह चाणक्य, चन्द्रगुप्त का राज्य स्थापित और स्थिर करता है, यही दिखाना इसका उद्देश्य है। राजनीति की कुटिल चालों का ही इसमें विशेष रूप से दिग्दर्शन कराया गया है।

यह नाटक वीर-रस-प्रधान है। शृंगार और करुणा रस का इसमें बिलकुल अभाव है। हाँ, अद्भुत रस का परिपाक बहुत अच्छी तरह हुआ है। नाटक में कोई प्रमुख स्त्री पात्र भी नहीं रक्खा गया। केवल नाटक के अन्त में एक ही स्थान पर चंदनदास की स्त्री प्रवेश करती है। वह भी किसी नवयुवती प्रेमिका या मुग्धा वियोगिनी के रूप में नहीं वरन् प्रौढ़ा कर्तव्य-परायणा

सीमा पर पहुँच जाता है। सारांश यह कि यद्यपि इस में कविकुल शिरोमणि कालिदास के नाटकों का माधुर्य या सौन्दर्य नहीं पाया जाता और महाकवि भवभूति के पत्थरों को पिघला देने वाले करुणा रस का भी अभाव है फिर भी कवि ने इस नाटक में पूर्णतया सफलता प्राप्त की है और नाटक की कहानी का निर्वाह आदि से अन्त तक बड़ी योग्यता से हुआ है।

पूर्व कथा

पूर्व काल में भारतवर्ष में मगध राज्य एक बड़ा भारी जनस्थान था। जरासंध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा यहाँ बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। इस देश की राजधानी पाटलिपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। इन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य इतना बढ़ाया था कि आज तक इनका नाम भूमंडल पर प्रसिद्ध है। किंतु कालचक्र बड़ा प्रबल है कि किसी को भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अन्त में नंदवंश* ने पौरवों को निकालकर वहाँ अपनी जयपताका उड़ाई; वरंच सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप विस्तारित कर दिया।

इतिहासग्रंथों में लिखित है कि एक सौ अड़तीस बरस नंदवंश ने मगध देश का राज्य किया। इसी वंश में महानंद का जन्म हुआ। यह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यंत प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकन्दर (अलक्षेंद्र) ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी तब असंख्य हाथी, बीस हज़ार सवार और दो लाख पैदल लेकर महानन्द ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया था†। सिद्धांत

* नंदवंश सम्मिलित क्षत्रियों का वंश था। ये लोग शुद्ध क्षत्री नहीं थे।

† सिकन्दर के कान्यकुब्ज से आगे न बढ़ने से महानंद से उससे मुक़ाबिला नहीं हुआ।

भारतवर्ष में उस समय महानंद सा प्रतापी और कोई न था।

हानंद के दो मंत्री थे। मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का था। शकटार शूद्र और राक्षस * ब्राह्मण था। ये दोनों बुद्धिमान् और महाप्रतिभासंपन्न थे। केवल भेद इतना राक्षस धीर और गंभीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यंत था। यहाँ तक कि अपने प्राचीनपने के अभिमान से कभी यह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। महानंद यंत उग्र स्वभाव, असहनशील और क्रोधी था, जिसका न यह हुआ कि महानंद ने अंत को शकटार को क्रोधांध बड़े निविड़ बंदीखाने में क़ैद किया और सपरिवार उसके को केवल दो सेर सत्तू देता था।†

---

* वृहत्कथा में राक्षस मंत्री का नाम कहीं नहीं है, केवल वररुचि सके राक्षस से मैत्री की कथा यों लिखी है—एक बड़ा प्रचण्ड पाटलिपुत्र में फिरा करता था। यह एक रात्रि वररुचि से मिला आ कि "इस नगर में कौन स्त्री सुन्दर है?" वररुचि ने उत्तर —"जो जिसको रुचे वही सुन्दर है।" इस पर प्रसन्न होकर मित्रता की और कहा कि हम सब बात में तुम्हारी सहायता करेंगे दा राजकाज में ध्यान में मग्न होकर राक्षस वररुचि की करता।

† वृहत्कथा में यह कहानी और ही चाल पर लिखी है। वररुचि, और इन्द्रदत्त तीनों को गुरुदक्षिणा देने के हेतु करोड़ों रुपये की आवश्यकता हुई। तब इन लोगों ने सलाह की कि नंद) राजा के पास चलकर उनसे सोना लें। उन दिनों राजा का शिविर में था, ये तीनों ब्राह्मण वहाँ गये, किन्तु संयोग से उन्हीं ।

शकटार ने बहुत दिन तक महामात्य का अधिकार भोगा था, इससे यह अनादर उसके पक्ष में अत्यंत दुखदाई हुआ। नित्य सत्तू का बरतन हाथ में लेकर अपने परिवार से कहता कि जो एक भी नंदवंश को जड़ से काटने में समर्थ हो वह यह सत्तू खाय। मंत्री के इस वाक्य से दुःखित होकर उसके परिवार का कोई भी सत्तू न खाता। अंत में कारागार की पीड़ा से एक-एक करके उसके परिवार के सब लोग मर गये।

एक तो अपमान का दुःख, दूसरे कुटुंब का नाश—इन दोनों कारणों से शकटार अत्यंत तन-छीन, मन-मलीन, दीन-हीन हो गया। किंतु अपने मनसूबे का ऐसा पक्का था कि शत्रु से बदला लेने की इच्छा से अपने प्राण नहीं त्याग किये और थोड़े-बहुत भोजन इत्यादि से शरीर को जीवित रक्खा। रात-दिन इसी सोच में रहता कि किस उपाय से यह अपना बदला ले सकेगा।

दिनों राजा मर गया। तब आपस में सलाह करके इन्द्रदत्त योगबल से अपना शरीर छोड़ राजा के शरीर में चला गया, जिससे राजा फिर जी उठा। तभी से उसका नाम योगानंद हुआ। योगानंद ने वररुचि को करोड़ रुपये देने की आज्ञा की। शकटार बड़ा बुद्धिमान् था; उसने सोचा कि राजा का मर कर जीना और एकबारगी एक अपरिचित को करोड़ रुपया देना इसमें हो न हो कोई भेद है। ऐसा न हो कि अपना काम करके फिर राजा का शरीर छोड़कर यह चला जाय, यह सोचकर शकटार ने राज-भर में जितने मुरदे मिले उनको जलवा दिया, उसी में इन्द्रदत्त का भी शरीर जल गया। जब व्याडि ने यह वृत्तांत योगानंद से कहा तो वह सुनकर पहिले तो दुखी हुआ फिर वररुचि को अपना मंत्री बनाया। परन्तु अंत में शकटार की उग्रता से संतप्त होकर अंधे कुएँ में कैद किया। बृहत्कथा में शकटार के स्थान पर शकटाल नाम लिखा है।

कहते हैं कि राजा महानंद एक दिन हाथ-मुँह धोकर हँसते-हँसते जनाने में आ रहे थे। विचक्षणा नाम की एक दासी जो राजा के मुँह लगने के कारण कुछ धृष्ट हो गई थी, राजा को हँसते देखकर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़े और उससे पूछा—"तू क्यों हँसी?" उसने उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे उसी पर मैं भी हँसी।" महानंद इस बात पर और भी चिढ़ा और कहा कि अभी बतला मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझको प्राणदण्ड होगा। दासी से और कुछ उपाय न बन पड़ा और उसने घबड़ा कर इसके उत्तर देने को एक महीने की मुहलत चाही। राजा ने कहा—"आज से ठीक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो कभी तेरे प्राण न बचेंगे।"

विचक्षणा के प्राण उस समय तो बच गये पर महीने के जितने दिन बीतते थे, मारे चिंता के वह उतनी ही मरी जाती थी। कुछ सोच-विचार कर वह एक दिन कुछ खाने-पीने की सामग्री लेकर शकटार के पास गई और रो-रो कर अपनी सब विपत्ति कहने लगी। मंत्री ने कुछ देर तक सोचकर उस अवसर की घटना पूछी और हँस कर कहा—"मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छींटों पर राजा को वटबीज की याद आई, और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े वट-वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अंतर्गत हैं। किंतु भूमि पर पड़ते ही वह जल के छींटे नाश हो गये। राजा अपनी इसी भावना को याद करके हँसते थे।" विचक्षणा ने हाथ जोड़ कर कहा—"यदि आपके अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस तरह होगा, आपको कैदखाने से छुड़ाऊँगी और जन्म-भर आपकी दासी होकर रहूँगी।"

राजा ने विचक्षणा से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा,

तो विचक्षणा ने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया। राजा ने चमत्कृत होकर पूछा—"सच बता तुझ से यह भेद किसने कहा ?" दासी ने शकटार का सब वृत्तांत कहा और राजा को शकटार की बुद्धि की प्रशंसा करते देख अवसर पाकर उसके मुक्त होने की भी प्रार्थना की। राजा ने शकटार को बंदी से छुड़ा कर राक्षस के नीचे मंत्री बना कर रक्खा।

ऐसे अवसर पर राजा लोग बहुधा चूक जाते हैं। पहिले तो किसी की प्रतिष्ठा बढ़ानी ही नीति-विरुद्ध है। यदि संयोग से बढ़ जाय तो उसकी बहुत-सी बातों को तरह देकर टालना चाहिए, और जो कदाचित् बड़े प्रतिष्ठित मनुष्य का राजा अनादर करे तो उसकी जड़ काट कर छोड़े, फिर उसका कभी विश्वास न करे। प्रायः अमीर लोग पहिले तो मुसाहिबों या कारिंदों को बेतरह सिर पर चढ़ाते हैं, और फिर छोटी-छोटी बातों पर उनकी प्रतिष्ठा हीन कर देते हैं। इसी से ऐसे लोग राजाओं के प्राण के गाहक हो जाते हैं और अंत में नंद की भाँति उनका सर्वनाश होता है।

शकटार यद्यपि बंदीखाने से छूटा और छोटा मंत्री हुआ, किंतु अपनी अप्रतिष्ठा और परिवार के नाश का शोक उसके चित्त में सदा पहिले ही-सा जागता रहा। रात-दिन वह यही सोचता कि किस उपाय से ऐसे अव्यवस्थित-चित्त उद्धत राजा को नाश करके अपना बदला लें। एक दिन घोड़े पर वह हवा खाने जाता था। नगर के बाहर एक स्थान पर देखता है कि एक काला-सा ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग की कुशा उखाड़ उखाड़ कर उसकी जड़ में मठा डालता जाता है। पसीने से लथपथ है, परन्तु शरीर की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। चारों ओर कुशा के बड़े बड़े ढेर लगे हुए हैं। शकटार

ने आश्चर्य से ब्राह्मण से इस श्रम का कारण पूछा। उसने कहा—"मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है, मैं ब्रह्मचर्य में नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि संसार की उपयोगी सब विद्या पढ़ कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आया था किंतु कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न हुआ, इससे जब तक इन बाधक कुशाओं का सर्वनाश न कर लूँगा और काम न करूँगा। मठा इस वास्ते इनकी जड़ में देता हूँ जिससे पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय।"

शकटार के जी में यह ध्यान आया कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुद्ध हो जाय तो उसका जड़ से नाश कर के छोड़े। यह सोचकर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चलकर पाठशाला स्थापित करें तो मैं अपने को बड़ा अनुगृहीत समझूँ। मैं इसके बदले बेलदार लगाकर यहाँ की सब कुशाओं को खुदवा डालूँगा। चाणक्य इस पर सम्मत हुआ और नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की। बहुत-से विद्यार्थी लोग पढ़ने लगे और पाठशाला बड़े धूमधाम से चल निकली।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य का राजा से किस चाल से बिगाड़ हो। एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था। उस अवसर को शकटार अपने मनोरथ सिद्ध होने का अच्छा समय सोचकर चाणक्य को श्राद्ध का न्यौता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर बिठला कर चला गया। क्योंकि वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले होने के कारण नंद उसको आसन पर से उठा देगा, जिससे चाणक्य अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका सर्वनाश करेगा।

और ठीक ऐसा ही हुआ—जब राक्षस के साथ नंद श्राद्ध-शाला में आया और एक अनिमंत्रित ब्राह्मण को आसन पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा तो चिढ़ कर आज्ञा दी कि इसको बाल पकड़ कर यहाँ से निकाल दो। इस अपमान से ठोकर खाये हुए सर्प की भाँति अत्यन्त क्रोधित होकर शिखा खोलकर चाणक्य ने सबके सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूँगा तब तक शिखा न बाँधूँगा। यह प्रतिज्ञा करके बड़े क्रोध से राज-भवन से चला गया।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य को मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निन्दा करके उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कहकर नंद के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा की। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी हाल न जानें कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा की सहायता देने का वृत्तान्त कहा और रात को एकान्त में बुलाकर चाणक्य के सामने उससे सब करार ले लिया।

महानंद को नौ पुत्र थे। आठ विवाहिता रानी से और एक चन्द्रगुप्त मुरा नाम की एक नाइन स्त्री से। इसी से चन्द्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान् था। इसी से और आठों भाई इससे द्वेष रखते थे। चन्द्रगुप्त की बुद्धिमानी की बहुत-सी कहानियाँ हैं। कहते हैं कि एक बेर रूम के बादशाह ने महानंद के पास एक कृत्रिम सिंह लोहे की जाली के पिंजड़े में बंद करके भेजा और कहला दिया कि पिंजड़ा टूटने न पावे और सिंह इसमें से निकल जाय। महानंद और उसके आठ औरस पुत्रों ने इसको बहुत कुछ सोचा, परन्तु बुद्धि ने कुछ काम न किया। चन्द्रगुप्त ने

विचारा कि यह सिंह अवश्य ऐसे पदार्थ का बना होगा जो या तो पानी से या आग से गल जाय, यह सोचकर पहिले उसने उस पिंजड़े को पानी के कुण्ड में रक्खा और जब वह पानी से न गला तो उस पिंजड़े के चारों तरफ आग बलवाई, जिसकी गर्मी से वह सिंह, जो लाह और राल का बना था, गल गया। एक बेर ऐसे ही किसी बादशाह ने अँगीठी में दहकती हुई आग* एक बोरा सरसों और एक मीठा फल

---

* दहकती आग की कथा "जरासंध महाकाव्य" में भी है कि जरासंध ने उग्रसेन के पास अँगीठी भेजी थी; शायद उसी से यह कथा निकाली गई हो, कौन जाने।

सवैया—रूप की रूपनिधान अनूप अँगीठी नई गढ़ि मोल मँगाई।
ता मधि पावकपुंज धरयो गिरिधारन जामें प्रभा अधिकाई॥
तेज सों ताके ललाई भई रज में मिली आसु सबै रजताई।
मानो प्रवाल की थाल बनायकै लाल की रास विशाल लगाई॥१॥
ढाँकि कै पावक दूत के हाथ दै बात कही इहि भाँति सुझायकै।
भैम भुआल सभा महँ सम्मुख राखिकै यों कहिये सिर नायकै॥
याहि पठायो जरासुत नै अवलोकहु नीकै अधीरज लाय कै।
पुत्र खपाय कै नातिन पाय कै जीहो जै पाय कै कौन उपाय कै॥२॥

दोहा—सुनत चार निधि हाथ लै, गयो भैम दरबार।
वासम ऐसे कैक भय, जहँ बैठे सरदार॥३॥

अडिल—जाय जरासुत दूत भैमपति पद परयौ।
देखि जराऊ जगइ हिये संभ्रम भरयौ॥
जगन जरावन द्रव्यपात आगे धरयौ।
सोच जरा है अभय हाल बरनन करयौ॥४॥
सुनि बिहँसे जदुबीर जीत की चाय में।

महानंद के पास अपने दूत के द्वारा
सभा का कोई भी मनुष्य इस का आ
चन्द्रगुप्त ने सोचकर कहा कि अँगीठी
है कि मेरा क्रोध अग्नि है और सरसों
कि मेरी सेना असंख्य है और फल भेज
कि मेरी मित्रता का फल मधुर है। इ
ने एक घड़ा जल और एक पिंजड़े में थो
अमूल्य रत्न भेजा, जिसका आशय यह था
हमारी नीति से सहज ही बुझाया जा सकत
सेना कितनी भी असंख्य क्यों न हो हमारे
करने में समर्थ हैं और हमारी मित्रता सद
एक रस है। ऐसे ही तीन पुतलीवाली
के साथ प्रसिद्ध है। इसी बुद्धिमानी के क
से उसके भाई लोग बुरा मानते थे; और
अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके इससे कुढ़ता
यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था, परन्तु ज्येष्ठ होने
अपने को राज का भागी समझता था, और
इसका राज-परिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाण

हँसि बोले गोविंद कहहु यह राय सों ॥
उचित समुरथन कीन क्षत्रकुल न्याय सों।
चढ़ी हमारे सहाय भुजा की हाय सों ॥५॥
सोरठा—इमि कहि द्रुत गहि चाप, आप आप लिखि
तुरतहि गयो

शकटार ने इसी से निश्चय किया कि हम लोग चन्द्रगुप्त को राज का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नंदों का नाश करके इसी को राजा बनावें।

यह सब सलाह पक्की हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चन्द्रगुप्त और विचक्षणा को तब तक सिखा-पढ़ाकर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य ने कुटी में जाकर हलाहल—विष—मिले हुए कुछ ऐसे पकवान तैयार किये जो परीक्षा करने में भी न पकड़े जायँ, किन्तु खाते ही प्राण नाश हो जाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानंद को पुत्रों समेत यह पकवान खिला दिया जिससे बेचारे सबके सब एक साथ परम-धाम को सिधारे।*

*भारतवर्ष की कथाओं में लिखा है कि चाणक्य ने अभिचार से मारण का प्रयोग करके इन सभी को मार डाला। विचक्षणा ने उस अभिचार का निर्माल्य किसी प्रकार इन लोगों के अंग में छुला दिया था। किन्तु वर्तमान काल के विद्वान् लोग सोचते हैं कि उस निर्माल्य में मन्त्र का बल नहीं था, चाणक्य ने कुछ औषध ऐसे विषमिश्रित बनाये थे कि जिनके भोजन या स्पर्श से मनुष्य का सद्यः नाश हो जाय। भट्ट सोमदेव के कथा-सरित्सागर के पीठलंब के चौथे तरंग में लिखा है—योगानन्द को ऊँची अवस्था में नये प्रकार की कामवासना उत्पन्न हुई। वररुचि ने यह सोचकर कि राजा को तो भोगविलास से छुट्टी ही नहीं है, इससे राजकाज का काम शकटार से निकाला जाय तो अच्छी तरह से चले। यह विचार कर और राजा से पूछकर शकटार को अंधे कुएँ से निकालकर वररुचि ने मंत्रीपद पर नियत किया। एक दिन शिकार खेलने में गंगा में राजा ने अपनी पाँचों उँगलियों की परछाईं वररुचि को दिखलाई।

चन्द्रगुप्त इस समय चाणक्य के साथ था। शकटार अपने दुःख और पापों से संतप्त होकर निविड़ वन में चला गया

वररुचि ने अपनी दो उँगलियों की परछाई ऊपर से दिखाई, जिससे राजा के हाथ की परछाई छिप गई। राजा ने इन संज्ञाओं का कारण पूछा। वररुचि ने कहा—आपका यह आशय था कि पाँच मनुष्य मिल कर सब कार्य साध सकते हैं। मैंने यह कहा कि जो दो चित्त एक हो जायँ तो पाँच का बल व्यर्थ है। इस बात पर राजा ने वररुचि की बड़ी स्तुति की। एक दिन राजा ने अपनी रानी को एक ब्राह्मण से खिड़की में से बात करते देखकर उस ब्राह्मण को मारने की आज्ञा दी, किन्तु अनेक कारणों से वह बच गया। वररुचि ने कहा कि आपके सब महल की यही दशा है। अनेक स्त्री-वेषधारी पुरुष महल में रहते हैं और उन सबों को पकड़कर दिखला दिया। इसी से उस ब्राह्मण के प्राण बचे। एक दिन योगानन्द की रानी के एक चित्र में, जो महल में लगा हुआ था, वररुचि ने जाँघ में तिल बना दिया। योगानन्द को गुप्त स्थान में वररुचि के तिल बनाने से उस पर भी संदेह हुआ और शकटार को आज्ञा दी कि तुम वररुचि को आज ही रात को मार डालो। शकटार ने उसको अपने घर में छिपा रक्खा और किसी और को उसके बदले मार कर उसका मारना प्रकट किया। एक बेर राजा का पुत्र हिरण्यगुप्त जंगल में शिकार खेलने गया था, वहाँ रात को सिंह के भय से एक पेड़ पर चढ़ गया। उस वृक्ष पर एक भालू था, किन्तु इसने उसको अभय दिया। इन दोनों में यह बात ठहरी कि आधी रात तक कुँवर सोवे भालू पहरा दे, फिर भालू सोवे कुँवर पहरा दे। भालू ने अपना मित्रधर्म निबाहा और सिंह के बहकाने पर भी कुँवर की रक्षा की। किन्तु अपनी पारी में कुँवर ने सिंह के बहकाने से भालू को ढकेलना चाहा, जिस पर उसने जागकर मित्रता के कारण कुँवर को मारा तो नहीं किन्तु कान

और अनशन करके प्राण त्याग किये। कोई कोई इतिहास-लेखक कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्र-द्वारा नंद का वध किया और फिर क्रम से उनके पुत्रों को भी मारा, किन्तु इस विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नंदों का नाश किया किन्तु केवल पुत्र सहित राजा के मरने ही से वह चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर न बैठा सका, इससे अपने अंतरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेश में राक्षस के पास छोड़कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अंत में अफ़गानिस्तान वा उसके उत्तर के निवासी पर्वतक-नामक लोभ-परतन्त्र एक राजा से मिलकर और जीतने के पीछे मगध-राज्य का आधा भाग देने के नियम पर उसको पटने पर चढ़ा लाया। पर्वतक के भाई

में भूत दिया, जिससे कुँवर गूँगा और बहिरा हो गया। राजा को बेटे की इस दुर्दशा पर बड़ा सोच हुआ और कहा कि वररुचि जीता होता तो इस समय उपाय सोचता। शकटार ने यह अवसर समझकर राजा से कहा कि वररुचि जीता है और लाकर राजा के सामने खड़ा कर दिया। वररुचि ने कहा—कुँवर ने मित्रद्रोह किया है उसका फल है। यह वृत्त कहकर उसको उपाय से अच्छा किया। राजा ने पूछा—तुमने यह सब वृत्तांत किस तरह जाना? वररुचि ने कहा—योगबल से, जैसे रानी का तिल। (ठीक यही कहानी राजा भोज, उसकी रानी भानुमती और उसके पुत्र और कालिदास की भी प्रसिद्ध है) यह सब कहकर और उदास होकर वररुचि जंगल में चला गया। वररुचि से शकटार ने राजा को मारने को कहा था, किन्तु यह धर्मिष्ठ था इससे सम्मत न हुआ। वररुचि के चले जाने पर शकटार ने अवसर पाकर चाणक्य द्वारा कृत्या से नंद को मारा।

का नाम वैरोधक* और पुत्र का मलयकेतु था। औ
म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपनी सहायता को लाया

इधर राक्षस मंत्री राजा के मरने से दुखी होकर उ
सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठाकर राजकाज चलाने
चाणक्य ने पर्वतक की सेना लेकर कुसुमपुर चारों ओर
लिया। पन्द्रह दिन तक घोरतर युद्ध हुआ। राक्षस की
और नागरिक लोग लड़ते लड़ते शिथिल हो गये; इसी
में गुप्तरीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसि
वैरागी होकर वन में चला गया। इस कुसमय में राजा
चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ। चन्दनदा
नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुम्ब को
छोड़कर और शकटदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जानने
वाले विश्वासपात्र मित्रों को और कई आवश्यक काम सौंपकर
राजा सर्वार्थसिद्धि के फेर लाने को आप तपोवन की ओर
गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के
पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को
मरवा डाला। राक्षस जब तपोवन में पहुँचा और सर्वार्थसिद्धि को
मरा देखा तो अत्यन्त उदास होकर वहीं रहने लगा। यद्यपि
सर्वार्थसिद्धि के मार डालने से चाणक्य की नंदकुल के नाश
की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी, किंतु उसने सोचा कि जब तक
राक्षस चन्द्रगुप्त का मन्त्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न
होगा। वरंच बड़े विनय से तपोवन में राक्षस के पास

*किसी पुस्तकों में यह नाम विरोधक, वैरोधक, वैरोचक, वैरोधक,
..., वैरोच इत्यादि कई पाठ से लिखा है।

मन्त्रित्व स्वीकार करने का संदेशा भेजा, परन्तु प्रभुभक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया।

तपोवन में कई दिन रहकर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे, काम न चलेगा। यह सोच कर यह पर्वतक के राज्य में गया और वहाँ उसके बूढ़े मन्त्री से कहा कि चाणक्य बड़ा दगाबाज है, वह आधा राज कभी न देगा, आप राजा को लिखिए, वह मुझसे मिलें तो मैं सब राज्य उनको दूँ। मन्त्री ने पत्रद्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस की नीतिकुशलता लिख भेजा और यह भी लिखा कि मैं अत्यन्त वृद्ध हूँ, आगे से मन्त्री का काम राक्षस को दीजिये। पाटलिपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज्य देने में विलम्ब करता है, यह देखकर सहज-लोभी पर्वतक ने मंत्री की बात मान ली और पत्र द्वारा राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर इधर ऊपर के चित्त से चाणक्य से मिला रहा।

जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का सब हाल जान कर अत्यन्त सावधानतापूर्वक चलना आरम्भ किया। अनेक भाषा जाननेवाले बहुत-से धूर्त पुरुषों को वेष बदलकर भेद लेने को चारों ओर नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे इसका भी पक्का प्रबन्ध किया और पर्वतक की विश्वासघातकता का बदला लेने को दृढ़ संकल्प से, परन्तु अत्यंत गुप्त रूप से, उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज के मिलने की आशा छोड़कर कुलूत* मलय, काश्मीर, सिंधु और पारस

---

*कुलूत देश किलात या कुल्लू देश।

इन पाँच देशों के राजाओं से भी सहायता ली। जब इन पाँचों देश के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देना स्वीकार किया तो वह तपोवन के निकट से फिर लौट आया और वहाँ से चन्द्रगुप्त के मारने को एक विषकन्या* भेजी और अपना विश्वासपात्र समझकर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह बात जानकर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वासघातकता से कुढ़कर प्रगट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लानेवाले को बहुत-सा पुरस्कार देकर विदा किया। साँझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इन्द्रियलोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के संग से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि मलयकेतु यहाँ रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इससे किसी तरह इसको यहाँ से भगावें तो काम चले। इस कार्य के हेतु भागुरायण-नामक एक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा-पढ़ाकर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर उसका हितू बनकर उससे कहा कि आज चाणक्य ने विश्वासघातकता करके आपके पिता को

---

* विषकन्या शास्त्रों में दो प्रकार की लिखी है। एक तो थोड़े से ऐसे बुरे योग हैं कि उस लग्न में उस प्रकार के ग्रहों के समय जो कन्या उत्पन्न हो उसके साथ जिसका विवाह हो वा जो उसका साथ करे वह साथ ही वा शीघ्र ही मर जाता है। दूसरे प्रकार की विषकन्या वैद्यक रीति से बनाई जाती थी। छोटेपन से वरन गर्भ से कन्या को दूध में वा भोजन में थोड़ा-थोड़ा विष देते-देते बड़ी होने पर उसका शरीर ऐसा विषमय हो जाता था कि जो उसका अंग-संग करता वह मर जाता।

विषकन्या के प्रयोग से मार डाला और अवसर पाकर आपको भी मार डालेगा। मलयकेतु बेचारा इस के सुनते ही सन्न हो गया और पिता के शयनागार में जाकर देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु के प्राण सूख गये और भागुरायण की सलाह से उसी रात को छिपकर यहाँ से भाग कर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाये भद्रभट इत्यादि चन्द्रगुप्त के कई बड़े बड़े अधिकारी प्रगट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गये।

राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारे जाने का समाचार सुनकर अत्यन्त सोच किया और बड़े आग्रह तथा सावधानी से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्टसाधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध कर दिया कि पर्वतक और चन्द्रगुप्त दोनों समान बन्धु थे, इससे राक्षस ने विषकन्या भेजकर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर, जिनको यह सब गुप्त अनुसन्धि न मालूम थी इस बात का निश्चय करा दिया।

इसके पीछे चाणक्य और राक्षस ने परस्पर नीति की जो चोटें चली हैं उन्हीं का इस नाटक में वर्णन है।*

---

* यह पूर्व कथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की ही लिखी हुई है।

नाटक की मुख्य घटनाएं

प्रथम अंक (१) गुप्तचर द्वारा राक्षस के ना
चाणक्य को मिल जाना, तथा चन्द्रगुप्त के वि
लगना। (२) राक्षस के मित्र शकटदास
जाली पत्र लिखवाना, और वह पत्र तथा संदे
सौंपना (३) राजा का विरोधी होने के कारण
देशनिर्वासन का दण्ड देना, शकटदास को फाँ
तथा चन्दनदास से राक्षस का परिवार माँगन
करने पर उसे कैद कर लेना। (३) सिद्धार्थ
का फाँसी से बचाया जाना, तथा दोनों का
(४) चन्द्रगुप्त के नौकरों—भागुरायण आदि-
कर मलयकेतु की नौकरी करना। द्वितीय
का अपने गुप्तचर द्वारा कुसुमपुर का वृत्तान्त
का राक्षस के लिए गहने भेजना (७) शकट
के साथ राक्षस के घर पहुँचना (८) मल
गहनों का, राक्षस द्वारा सिद्धार्थक को, शक
के दुष्कर काम के लिए पुरस्कार में दिया ज
का राक्षस के नाम की अंगूठी (वही अंगू
अपने दूसरे गुप्तचर से मिली थी) का राक्ष
चाणक्य द्वारा भेजे गये ब्राह्मणों का राक्षस
गहने बेचना। तृतीय अङ्क (११) चाणक्य
झूठा कलह करना। चौथा अङ्क (१२) रा
हाल सुनकर मलयकेतु का उसके पर आ
हो कर राक्षस और उसके गुप्तचर
— से राक्षस है

ेना, और चाणक्य के गुप्तचर भागुरायण का उस सन्देह को
ौर पुष्ट करना। पंचम अंक--(१३) कुसुमपुर जाने के लिए
ीवसिद्धि का भागुरायण के पास परवाना लेने जाना और यह
तलाना कि राक्षस ने उसके द्वारा विप-कन्या का प्रयोग करा-
र देव पर्वतक को मारा था, चाणक्य ने नहीं; मलयकेतु का
ह खबर सुन लेना। (१४) विना परवाना लिये हुए कुसुमपुर
ते हुए सिद्धार्थक का पकड़ा जाना और द्वाररक्षकों का उसे
ागुरायण के सामने पेश करना। (१५) सिद्धार्थक के पास से
त्र (यह पत्र वही था जो चाणक्य ने धोखे से शकटदास से
लखवाया था) और गहनों की पेटी का पकड़ा जाना, तथा पूछने
र और मार पड़ने पर उसका यह बतलाना कि यह पत्र तथा
हनों की पेटी देकर राक्षस ने उसे चन्द्रगुप्त के पास भेजा था।
६) मलयकेतु का राक्षस से उस पत्र की कैफियत माँगना,
र राक्षस का कुछ जवाब न दे सकना इस पर मलयकेतु का उसे
काल देना। (१७) कलूत इत्यादि देशों के राजाओं को चन्द्रगुप्त
मिला हुआ समझ कर मलयकेतु का उनको मरवा देना।
८) मलयकेतु का युद्ध करने जाना। छठा अङ्क (१९) मलयकेतु
अलग होकर घूमते-घामते राक्षस का कुसुमपुर के पास
चना और वहाँ एक आदमी (चाणक्य के गुप्तचर) को गले में
सी लगाने के लिए तैयार होते देखना, तथा राक्षस के पूछने
उसका चन्दनदास को फाँसी देने की तैयारी का पता देना, इस
चन्दनदास के प्राण बचाने के लिए राक्षस का वध-स्थान पर
चना। सप्तम अङ्क (२०) चन्दनदास के प्राण बचने का और
ई तरीका न देखकर राक्षस का चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार
ना (२१) मलयकेतु का पकड़ा जाना तथा राक्षस के अनुरोध
उसका छोड़ा जाना।

पात्र-परिचय

पहले लिखा जा चुका है, कि महाकवि विशाखदत्त ने चरित्रचित्रण में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। मुद्राराक्षस नाटक का नायक है मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त तथा प्रतिनायक है म्लेच्छाधिपति मलयकेतु। परन्तु इस नाटक के प्रधान पात्र हैं कुटिल-नीतिज्ञ चाणक्य तथा स्वामि-भक्त अमात्य राक्षस। इन्हीं दोनों के राजनैतिक दाव-पेंचों तथा पारस्परिक आघात-प्रत्याघातों पर ही नाटक की कथा अवलम्बित है।

चाणक्य—इसका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त है पर चणक ऋषि की सन्तान होने के कारण इसे चाणक्य, तथा कुटिल नीतिज्ञ होने के कारण कौटिल्य कहा जाता था। हमारे देश में चाणक्य की गणना राजनीति के प्रमुख आचार्यों में की जाती है। पाश्चात्य इतिहास-लेखक इसे भारतवर्ष का (Machiavalli) कहते हैं।

चाणक्य की नीति का मूल मंत्र है "विश्वस्तेष्वपि न विश्वसेत्" या "मनसा चिन्तितं कर्म वचसा न प्रकाशयेत्"—अर्थात् विश्वस्त से विश्वस्त पर भी विश्वास न करे, किसी को भी अपनी गुप्त बात न बतावे, यहाँ तक कि मन की सोची हुई बात का वाणी को भी पता न लगे। नाटककार ने भी इस नाटक में इस का चरित्र-चित्रण इसी ढंग पर किया है।

नाटक के प्रारम्भ में ही चाणक्य का अपना ही गुप्तचर जिन तीन चन्द्रगुप्त के विरोधियों का नाम लेता है उनमें एक था जीवसिद्धि क्षपणक। यह भी चाणक्य का ही गुप्तचर था पर अंत तक प्रकट रूप में वह राक्षस का विश्वस्त मित्र बना रहा। चाणक्य के अपने आदमी भी इस रहस्य को न जानते थे। इसके सिवा मलयकेतु, शकटदास—सबको चाणक्य के गुप्तचरों ने घेर

रक्खा था पर नाटक के अंतिम अंक तक किसी को भी किसी तरह की शङ्का नहीं होती; और सब काम धीरे धीरे यथासमय पूरा होता जाता है। चाणक्य की इसी कुटिल नीति के जाल में फँस कर अन्त में परमनीतिज्ञ राक्षस को भी कहना पड़ता है—"जाल पर्यो का खेल में कुछ समझयो नहिं जात।"

कुटिल नीतिज्ञ होने के साथ साथ चाणक्य है दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ तथा आत्म-विश्वासी। इसी दूरदर्शिता का परिणाम है कि वह नाटक की घटनाओं को नियंत्रित-सा करता प्रतीत होता है। सब घटनाएँ वैसी ही होती हैं जैसा कि वह चाहता है। दृढ़-प्रतिज्ञ ऐसा है कि जो प्रतिज्ञा एक बार करली जब तक उसे पूरा न कर लिया तब तक चैन नहीं, आराम नहीं। क्रोधी ब्राह्मण के मुँह से जो बात एक बार निकल गई वह पूरी होनी चाहिए; संसार की कोई शक्ति उसमें बाधा नहीं डाल सकती। आत्म-विश्वास इतना कि कई स्थानों पर वह आत्माभिमान की मर्यादा को भी लाँघ जाता है। क्या ही गर्व-भरी उक्ति है "अब चित्रगुप्त इन नाम को मेटहिं जब हम लिखहिं हति"।

इन सब गुणों के अतिरिक्त कुटिल नीतिज्ञ चाणक्य के जीवन में मानव दृष्टि से जो विशेषता कही जा सकती है वह है उसका निरपेक्षभाव। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तथा सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक के सम्राट् के राजगुरु और महामात्य के घर की पूँजी है सूखी हुई पाथियाँ और शिष्यों द्वारा भिक्षा में लाये गये मुट्ठी भर चावल। उसका निवास-स्थान गगनचुम्बी महल नहीं अपितु सूखती हुई समिधाओं के भार से झुका हुआ छप्पर है। इसके अतिरिक्त सब शत्रुओं का नाश कर बड़े कष्ट और यत्न से प्राप्त राज्य का वह मन्त्री-पद तक नहीं चाहता; बिना किसी संकोच के ही नहीं अपितु अपना कर्त्तव्य समझ

कर, राज्य की भलाई के लिए उस पद पर अपने प्रतिद्वंदी को नियुक्त कराना उसी आदर्श ब्राह्मण का काम है।

राक्षस—इतिहास में अमात्य राक्षस का नाम कहीं नहीं आता परन्तु फिर भी यह चरित्र कवि का अपना कल्पित-मात्र प्रतीत नहीं होता। अस्तु, अमात्य राक्षस स्वामिभक्त है, निस्वार्थ सेवक है, नन्द के मर जाने पर भी चन्द्रगुप्त का निमंत्रण पाने पर भी वह उसका मंत्रित्व स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह उस के स्वर्गीय स्वामी का शत्रु है।

मित्र-स्नेह का भाव उसमें स्वामि-भक्ति से भी अधिक प्रबल है। चन्दनदास पर विपत्ति आती देखकर अपने प्रण को भी भूल जाता है और मित्र-स्नेहवश चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार कर लेता है! चाणक्य भी उसके मर्मस्थान को भली भाँति पहचानता था, अतः उसने इसी उपाय को स्वीकार कर अंत में इस महान् शत्रु को अपने वश में कर लिया।

अमात्य राक्षस राजनीतिज्ञ अवश्य है पर उससे अधिक वह सेनापति-पद के योग्य है। उसका हृदय उदार है वह स्वयं भावुक है, चाणक्य जैसी कुटिलता उसके हृदय में स्थान न पा सकी थी। अतएव जहाँ चाणक्य किसी पर विश्वास न करता था वहाँ यह सब पर शीघ्र ही विश्वास कर लेता है। इसी सहज विश्वास कर लेने की आदत के कारण ही अन्त में इसे नीचा देखना पड़ा। सब स्थानों पर अपने विश्वासपात्र मित्रों—जीव-सिद्धि, सिद्धार्थक आदि—से ही इसे धोखा मिला। यह चाणक्य की तरह अपने मनोभावों को भी नहीं छिपा सकता था, वरन् अति शीघ्र ही भावावेश में आ जाता था। एक ओर चाणक्य अपने गुप्तचर से चन्द्रगुप्त के विरोधियों में जीवसिद्धि का नाम सुनकर भी चुप रहता है किसी को यह नहीं पता लगने देता कि वह भी

उसका अपना ही गुप्तचर है; दूसरी ओर राक्षस अपने गुप्तचर से कुसुमपुर को घिरा हुआ सुनकर उसी समय सबके सामने अपनी तलवार खींचकर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो जाता है। आत्मविश्वास का भी उसमें अभाव है अपनी हार जीत को देखकर वह भाग्य को दोष देकर ही चित्त को शान्त कर लेता है।

नाटक के नायक तथा प्रति-नायक के चरित्र-चित्रण की ओर कवि ने अधिक ध्यान नहीं दिया। चन्द्रगुप्त केवल एक या दो स्थान में ही रंगमंच पर आता है। विनय तथा गुरुभक्ति ही उसके विशेष गुण हैं। चाणक्य पर उसे अगाध विश्वास है इस लिए उसे स्वयं किसी बात की चिंता नहीं।

मलयकेतु में राक्षस के प्रति सहजही अविश्वास-भाव था। उस पर भागुरायण आदि चाणक्य के गुप्तचरों ने उसे और भी पुष्ट कर दिया। साथ ही वह बड़ा जल्दबाज है। बिना विचारे कार्य कर देना तथा दूसरे के बहकावे में आजाना उसका स्वभाव है। इसी कारण कौलूतादिक सब राजा मारे गये।

शकटदास तथा चंदनदास के चरित्र आदर्श मित्रता के उदाहरण हैं। चंदनदास प्राण दे देने को उद्यत हो जाता है पर मित्र के परिवार को शत्रु के हाथ नहीं देना चाहता। उसका चरित्र स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य है, उसके शत्रु तक इस बात की प्रशंसा करते हैं।

भागुरायण तथा सिद्धार्थक पूरे स्वामिभक्त हैं। स्वामी की आज्ञा से वे पाप-पुण्य सब कर सकते हैं। सिद्धार्थक ने तो अमात्य राक्षस की उपस्थिति में भी झूठ बोलने में संकोच अनुभव नहीं किया।

नाटक के पात्रगण

पुरुष-पात्र

चन्द्रगुप्त—पाटलिपुत्र का नया राजा, वृषल तथा मौर्य द्व
संबोधित और नाटक का नायक।

चाणक्य—विष्णुगुप्त-नामक राजनीतिज्ञ ब्राह्मण और राक्षस
मिलाये जाने तक चन्द्रगुप्त का मंत्री।

मलयकेतु—पर्वतक का पुत्र और नाटक का प्रतिनायक।

राक्षस—नंद का ब्राह्मण मंत्री, चन्द्रगुप्त के विरुद्ध षड्यंत्र करता
रहा पर अंत में चाणक्य द्वारा उसका मंत्री बनाया गया।

भागुरायण—मलयकेतु का मित्र, पर चाणक्य का गुप्त भेदिया।

निपुणक, जीवसिद्धि, सिद्धार्थक, समिद्धार्थक—चाणक्य
भेदिये।

शारंगरव—चाणक्य का शिष्य।

चंदनदास, शकटदास—राक्षस के मित्र।

विराधगुप्त, करभक—राक्षस के भेदिये।

प्रियंवदक—राक्षस का सेवक।

सुरक—भागुरायण का सेवक।

नर—चन्द्रगुप्त का कंचुकी।

लि—मलयकेतु का कंचुकी।

स्त्री-पात्र

त्तरा—चन्द्रगुप्त की प्रतिहारी।

ा—मलयकेतु की प्रतिहारी।

अन्य पात्र

, नटी, द्वारपाल, चंदनदास की स्त्री तथा पुत्र, बंदीजन आदि।

मुद्राराक्षस नाटक

प्रस्तावना

स्थान—रंगभूमि

[रंगशाला में नांदी-मंगलपाठ]

भरित नेह नव नीर, नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥१॥

'कौन है सीस पै?' 'चन्द्रकला' 'कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी?'
'हाँ यही नाम है, भूल गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी ॥'
'नारिहिं पूछत चंद्रहिं नाहिं' 'कहै विजया जदि चन्द्र लबारी।'
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी ॥२॥
पाद-प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु-बोझ के मारे।
हाथ नचाइबे सों नभ मैं इत के उत टूटि परैं नहिं तारे ॥
देखन सों जरि जाहिं न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत, सर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे ॥३॥*

---

* संस्कृत का मंगलाचरण—
धन्या केयं स्थिता ते शिरसि, शशिकला, किन्नु नामैतदस्याः
नामैवास्यास्तदेतत्, परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ॥
नारीं पृच्छामि नेन्दुं, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दुः
देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥१॥

[नांदी-पाठ के अनंतर]*

सूत्रधार--बस, बहुत मत बढ़ाओ। सुनो, आज मुझे सभासदों की आज्ञा है कि 'सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र विशाखदत्त कवि का बनाया मुद्राराक्षस नाटक खेलो।'

और भी

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातै-
स्संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्व्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥२॥

अर्थ

'यह आपके सिर पर कौन बड़भागिनी है?' 'शशिकला है।' 'क्या इसका यही नाम है?' 'हाँ, यही तो, तुम तो जानती हो फिर क्यों भूल गई?' 'अजी हम स्त्री को पूछती हैं, चन्द्रमा को नहीं पूछती,' 'अच्छा चन्द्र की बात का विश्वास न हो, तो अपनी सखी विजया से पूछ लो।' योंही बात बनाकर गंगाजी को छिपाकर देवी पार्वती को ठगने की इच्छा करनेवाले महादेवजी का छल तुम लोगों की रक्षा करे।

दूसरा

पृथ्वी झुकने के डर से इच्छानुसार पैर का बोझ नहीं दे सकते, ऊपर के लोकों के इधर-उधर हो जाने के भय से हाथ भी यथेच्छ नहीं फेंक सकते, और उसके अग्निकण से जल जायँगे इसी ध्यान से किसी की ओर भर दृष्टि देख भी नहीं सकते, इससे आधार के संकोच से महादेवजी का कष्ट से नृत्य तुम्हारी रक्षा करे।

*नाटकों में पहले मंगलाचरण करके तब खेल आरम्भ करते हैं। इस मंगलाचरण को नाटक-शास्त्र में नांदी कहते हैं। किसी का मत है कि नांदी पहले आरम्भ पढ़ता है, कोई कहता है सूत्रधार ही। और किसी का मत है कि परदे के भीतर से नांदी पढ़ी या गाई जाय।

सच है, जो सभा काव्य के गुण और दोष को सब भाँति समझती है उसीके सामने खेलने में मेरा भी चित्त संतुष्ट होता है।

उपजै आछे खेत में मूरखहू के धान।
सघन होन में धान के चहिय न गुनी किसान ॥४॥

तो अब मैं घर से सुघर घरनी को बुलाकर कुछ गाने-बजाने का ढंग जमाऊँ। (घूमकर) यही मेरा घर है, चलूँ। (आगे बढ़कर) अहा! आज तो मेरे घर में कोई उत्सव जान पड़ता है, क्योंकि घरवाले सब अपने-अपने काम में चूर हो रहे हैं।

पीसत कोऊ सुगध, कोऊ जल भरिकै लावत।
कोऊ बैठिकै रंग रंग की माल बनावत।
कहुँ तियगन-हुंकार-सहित, अति स्रवन सोहावत।
होत मुसल को शब्द, सुखद जिय को सुनि भावत ॥५॥

जो हो घर से स्त्री को बुलाकर पूछ लेता हूँ।

(नेपथ्य की ओर देखकर)

री गुनवारी! सब उपाय की जाननवारी।
घर की राखनवारी! सब कुछ साधनवारी।
मो गृह-नीति-सरूप, काज सब करन सँवारी।
वेगि आउ री नटी! विलंब न कर सुनि प्यारी ॥६॥

[नटी आती है]

नटी—आर्यपुत्र! मैं आई, अनुग्रहपूर्वक कुछ आज्ञा दीजिए।

सूत्र०—प्यारी आज्ञा पीछे दी जायगी, पहले यह बता कि आज ब्राह्मणों का न्यौता करके तुमने कुटुंब के लोगों पर क्यों अनुग्रह किया है? या आप ही से आज अतिथि लोगों ने कृपा किया है कि ऐसे धूम से रसोई चढ़ रही है?

नटी—आर्य! मैंने ब्राह्मणों को न्यौता दिया है।

सूत्र०—क्यों? किस निमित्त से?

नटी—चन्द्रग्रहण लगनेवाला है।

सूत्र०—कौन कहता है ?

नटी—नगर के लोगों के मुँह सुना है।

सूत्र०—प्यारी ! मैंने ज्योतिःशास्त्र के चौसठों अंगों* में बड़ा परिश्रम किया है। जो हो, रसोई तो होने दो† पर आज तो ग्रहन है यह तो किसी ने तुझे धोखा ही दिया है क्योंकि—

> चंद्र-बिंब पूर न भए क्रूर केतु‡ हठ दाप।
> बल सों करिहै ग्रास कह§—

---

* होरा मुहूर्त जातक ताजक रमल इत्यादि।

† अर्थात् ग्रहण का योग तो कदापि नहीं है। खैर रसोई हो।

‡ केतु अर्थात् राक्षस मन्त्री। राक्षस मन्त्री ब्राह्मण था और केवल नाम उसका राक्षस था किन्तु गुण उसमें देवताओं के थे।

§ इस श्लोक का यथार्थ तात्पर्य जानने को काशी संस्कृत विद्यालय के अध्यक्ष जगद्विख्यात् पण्डितवर बापूदेव शास्त्री को मैंने पत्र लिखा। क्योंकि टीकाकारों ने "चन्द्रमा पूर्ण होने पर" यही अर्थ किया है और इस अर्थ से मेरा जी नहीं भरा। कारण यह कि पूर्ण चन्द्र में ही ग्रहण लगता ही है, इसमें विशेष क्या हुआ ? शास्त्रीजी ने जो उत्तर दिया है वह यहाँ प्रकाशित होता है।

श्रीयुत बाबू साहिब को बापूदेव का कोटिशः आशीर्वाद, आपने जो भिन्न भेजा उसका संक्षेप से उत्तर लिखता हूँ।

१ सूर्य के अस्त हो जाने पर जो रात्रि में अंधकार होता है वही पृथ्वी की छाया है और पृथ्वी गोलाकार है और सूर्य से छोटी है इस कारण उसकी छाया सूच्याकार शंकु के आकार की होती है और वह आकाश में चन्द्र के भ्रमणमार्ग को लाँघ के बहुत दूर तक गई। सूर्य से छः राशि के अन्तर पर रहती है और पूर्णिमा के अन्त में चन्द्रमा

(नेपथ्य में)

हैं ! मेरे जीते चन्द्र को कौन बल से ग्रस सकता है ?

सूत्र०— जेहि बुध रच्छत आप ॥७॥

नटी—आर्य ! यह पृथ्वी ही पर से चन्द्रमा को कौन बचाना चाहता है ?

भी सूर्य से छ राशि के अन्तर पर रहता है। इसलिये जिस पूर्णिमा में चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में आ जाता है अर्थात् पृथ्वी की छाया चन्द्रमा के बिम्ब पर पड़ती है तभी वह चन्द्र का ग्रहण कहलाता है और छाया जो चन्द्रबिम्ब पर देख पड़ती है वही ग्रास कहलाता है। और राहु नामक एक दैत्य प्रसिद्ध है वह चन्द्रग्रहणकाल में पृथ्वी की छाया में प्रवेश करके चन्द्र की ओर प्रजा को पीड़ा करता है, इसी कारण से लोक में राहुकृत ग्रहण कहलाता है और उस काल में स्नान, दान जप, होम इत्यादि करने से वह राहुकृत पीड़ा दूर होती है और बहुत पुण्य होता है।

२ पूर्णिमा में चन्द्रग्रहण होने का कारण ऊपर लिखा ही है और पूर्णिमा में चन्द्रबिम्ब भी संपूर्ण उज्ज्वल होता है तभी चन्द्रग्रहण होता है।

३ जब कि पूर्णिमा के दिन चन्द्रग्रहण होता है, इससे पूर्णिमा में चन्द्रमा का और बुध का योग कभी नहीं होता (क्योंकि बुध सर्वदा सूर्य के पास रहता है और पूर्णिमा के दिन सूर्य चन्द्रमा से छ राशि के अन्तर पर रहता है, इसलिये बुध भी उस दिन चन्द्र से दूर ही रहता है) तो बुध के योग में चन्द्रग्रहण कभी नहीं हो सकता। इति शिवम्। संवत् १९६७ ज्येष्ठ शुक्ल १५ मंगल दिने, मंगले मंगलं भूयात्।

शास्त्रीजी से एक दिन मुझे इस विषय में फिर बातें हुईं। शास्त्रीजी को मैंने मुद्राराक्षस की पुस्तक दिखलाई। इस पर शास्त्रीजी ने कहा कि मुझको ऐसा मालूम होता है कि यदि उस दिन उपराग का सम्भव होता तो सूर्योपराग का होता। क्योंकि बुधयोग अमावास्या के पास

सूत्र०—प्यारी मैंने भी नहीं लखा, देखो, अब फिर से वही पढ़ता हूँ और अब जब वह फिर बोलेगा तो मैं उसकी बोली से पहिचान लूँगा कि कौन है ।

होता भी है। पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि राहु चन्द्रमा का ग्रास करता है और केतु सूर्य्य का, और इस श्लोक में केतु का नाम भी है। इसमें भी सम्भव होता है कि सूर्य्य-उपराग रहा हो। तो चाणक्य का कहना भी ठीक हुआ कि केतु हठपूर्वक क्यों चन्द्र को ग्रसा चाहता है अर्थात् एक तो चन्द्रग्रहण का दिन नहीं दूसरे केतु का चन्द्रमा ग्रास का विषय नहीं क्योंकि नन्द वीर्य्यजात होने से चन्द्रगुप्त राक्षस का बध्य नहीं है। इस अवस्था में 'चन्द्रम् असम्पूर्णमण्डलं' चन्द्रमा का अधूरा मण्डल यह अर्थ करना पड़ेगा। तब छन्द में 'चन्द्रबिम्ब पूरन भए' के स्थान पर बिना चन्द्र पूरन भए' पढ़ना चाहिए।

बुध का बिम्ब प्राचीन भास्कराचार्य के मतानुसार छ कला पन्द्रह विकला के लगभग है। परन्तु नवीनों के मत से केवल दश विकला रम है।

परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यह ग्रह बहुत छोटा है। क्योंकि चीनों को इसका ज्ञान बहुत कठिनता से हुआ है, इसीलिए इस नाम ही बुध, ज्ञ, इत्यादि हो गया। यह पृथ्वी से ६८९३७७ इतने जन की दूरी पर मध्यम मान से रहता है और सदा सूर्य्य के अनुचर समान सूर्य्य के पास ही रहता है, एक पाद अर्थात् तीन राशि भी र्य से आगे नहीं जाता। विलसन ने केतु शब्द से मलयकेतु का ग्रहण या है। इसमें भी एक प्रकार का अलंकार अच्छा रहता है।

चमत्कृत बुद्धिसम्पन्न पण्डित सुधाकरजी ने इस विषय में जो खा है वह विचित्र ही है। वह भी प्रकाश किया जाता है—

करत अधिक अँधियार यह, मिलि मिलि करि हरिचन्द।
द्विजराजहु विकसित करत, धनि धनि यह हरिचन्द॥

['चन्द्रबिम्ब पूर न भए' फिर से पढ़ता है]

(नेपथ्य में)

हैं! मेरे जीते चन्द्र को कौन बल से ग्रस सकता है?

श्री बाबू साहब को हमारे अनेक आशीर्वाद,

महाशय!

चन्द्रग्रहण का सम्भव भूछाया के कारण प्रति पूर्णिमा के अन्त में होता है और उस समय में केतु और सूर्य साथ रहते हैं। परन्तु केतु और सूर्य का योग यदि नियत संख्या के अर्थात् पांच राशि सोलह अंश से लेकर छ राशि चौदह अंश के वा ग्यारह राशि सोलह अंश से लेकर बारह राशि चौदह अंश के भीतर होता है तब ग्रहण होता है और यदि योग नियत संख्या के बाहर पड़ जाता है तब ग्रहण नहीं होता। इसलिये सूर्य केतु के योग ही के कारण से प्रत्येक पूर्णिमा में ग्रहण नहीं होता। तब

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः॥

इस श्लोक का यथार्थ अर्थ यह है कि क्रूरग्रह सूर्य केतु के साथ चन्द्रमा के पूर्णमण्डल को न्यून करने की इच्छा करता है परन्तु हे बुध! योग जो है वही बल से उस चन्द्रमा की रक्षा करता है। यहाँ बुध शब्द पण्डित के अर्थ में संबोधन है, ग्रहवाची कदापि नहीं है। बुध शब्द का ग्रहार्थ में ले आने से जो-जो अर्थ होते हैं वे सब बखेड़ा हैं। इति

सं० १९३० वैशाख शुक्ल ५

ऊँचे हैं गुरु बुध सबी मिलि करि होत बिरूप।
चरन समागम सबहि सों, यह द्विजराज अनूप॥

भवदीय

पं० सुधाकर।

सूत्र०—(सुनकर) जाना—

अरे! अहै कौटिल्य

नटी—(डर नाट्य करती है)

सूत्र०— दुष्ट टेढ़ी मतिवारो।

नंदवंश जिन सहजहि निज क्रोधानल जारो॥

चंद्रग्रहण को नाम सुनत निज नृप को मानी।

इतही आवत चंद्रगुप्त पै कछु भय जानी॥८॥

तो अब चलो, हम लोग चलें

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना

प्रथम अंक

स्थान—चाणक्य का घर

[अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ चाणक्य आता है]

चाणक्य—बता! कौन है जो मेरे जीते चन्द्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है?

सदा दंति के कुम्भ को जो विदारै।

ललाई नए चंद-सी जौन धारै॥

जँभाई-समै काल सो जौन बाढ़ै।

भलो सिंह के दाँत सो कौन काढ़ै?॥९॥

और भी

कालसर्पिणी नंदकुल, क्रोध-धूम-सी जौन।

अबहूँ बाँधन देत नहिं अहो शिखा मम कौन?॥१०॥

दहन नंदकुल-बन सहज अति प्रज्वलित प्रताप।

को मम क्रोधानल-पतँग भयो चहत अब पाप?॥११॥

पै मम अनादर को अंतिहि यह सोच जिय जिनके
ते लखहिं आसन सों गिरायो नंद सहित समाज
जिमि सिखर तें वनराज क्रोधि गिरावई गजरा

सो यद्यपि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुका
चन्द्रगुप्त के हेतु शस्त्र अब भी धारण करता हूँ। दे

नवनंदन को मूल सहित खोयो छन भर
चंद्रगुप्त में श्री राखी नलिनी जिमि सर में
क्रोध प्रीति सों एक नासिकै एक बसा
सत्रु मित्र को प्रगट सबन फल लै दिखलायं

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता त
मारने से क्या और चंद्रगुप्त को राज्य मिलने
(कुछ सोचकर) अहा! राक्षस की नंदवंश में कैसी
जब तक नंदवंश का कोई भी जीता रहेगा तब
शूद्र का मंत्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उ
हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं। य
नंदवंश का सर्वार्थसिद्धि बिचारा तपोवन में चल
हमने मार डाला। देखो, राक्षस मलयकेतु को
बिगाड़ने में यत्न करता ही जाता है। (आकाश
राक्षस मंत्री वाह! क्यों न हो! वाह मंत्रि
समान वाह! तू धन्य है, क्योंकि—

जब लौं रहै सुख राज को तब लौं सबै से
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी? तनिक नहिं चि
जे बिपतिहूँ में पालि पूरब प्रीति काज
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहै सं

---

* नंद ने कुरूप होने के कारण चाणक्य को अ
दिया था।

इसी से तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हें मिलाया चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चंद्रगुप्त के मंत्री बनो, क्योंकि—

मूरख, कातर, स्वामिभक्त कछु काम न आवै।
पंडित हू बिनु भक्ति काज कछु नाहिं बनावै॥
निज स्वारथ की प्रीति करैं ते सब जिमि नारी।
बुद्धि, भक्ति दोउ होय तबै सेवक सुखकारी॥१६॥

सो मैं भी इस विषय में कुछ सोता नहीं हूँ; यथाशक्ति उसी के मिलने का यत्न करता रहता हूँ। देखो, पर्वतक को चाणक्य ने मारा यह अपवाद न होगा, क्योंकि सब जानते हैं कि चंद्रगुप्त और पर्वतक मेरे मित्र हैं, तो मैं पर्वतक को मारकर अपना पक्ष निर्बल कर दूँगा ऐसी शंका कोई न करेगा। सब यही कहेंगे कि राक्षस ने विषकन्या-प्रयोग करके चाणक्य के मित्र पर्वतक को मार डाला। पर एकांत में मैंने भागुरायण द्वारा मलयकेतु के जी में यह निश्चय करा दिया है कि तेरे पिता को चाणक्य ही ने मारा, इससे मलयकेतु मुझ से बिगड़ रहा है। जो हो, यदि यह राक्षस लड़ाई करने को उद्यत होगा तो भी पकड़ा जायगा। पर जो हम मलयकेतु को पकड़ेंगे तो लोग निश्चय कर लेंगे कि अवश्य चाणक्य ही ने अपने मित्र, इसके पिता को मारा और अब मित्रपुत्र अर्थात् मलयकेतु को मारना चाहता है। और भी, अनेक देश की भाषा, पहिरावा, चाल-व्यवहार जाननेवाले अनेक वेषधारी बहुत से दूत मैंने इसी हेतु चारों ओर भेज रक्खे हैं कि वे भेद लेते रहें कि कौन हम लोगों से शत्रुता रखता है, कौन मित्र है। और कुसुमपुर-निवासी नंद के मंत्री और संबंधियों के ठीक ठीक वृत्तांत का अन्वेषण हो रहा है, वैसे भद्रभटादिकों को बड़े बड़े पद देकर चंद्रगुप्त के पास रख दिया है और भक्ति की परीक्षा लेकर बहुत से अनुरागी पुरुष भी शत्रु

से रक्षा करने को नियत कर दिए हैं। वैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण जो शुक्र-नीति और चौंसठों कला से ज्योतिष-शास्त्र में बड़ा प्रवीण है, उसे मैंने पहलेही जैन संन्यासी बनाकर नंदवध की प्रतिज्ञा के अनंतर ही कुसुमपुर में भेज दिया है। वह वहाँ नंद के मंत्रियों से मित्रता, विशेष करके राक्षस का अपने पर बड़ा विश्वास बढ़ाकर सब काम सिद्ध करेगा। इससे मेरा सब काम बन गया है, परंतु चंद्रगुप्त सब राज्य का भार मेरे ही ऊपर रखकर सुख करता है। सच है, जो अपने बल बिना और अनेक दुखों के भोगे बिना राज्य मिलता है वही सुख देता है। क्योंकि—

अपने बल सों लावहीं जद्यपि मारि सिकार।
तदपि सुखी नहिं होत हैं राजा-सिंह-कुमार ॥१७॥

[* यम का चित्र हाथ में लिये योगी का वेष धारण किये दूत आता है]

दूत—अरे! और देव को काम नहिं जम को करो प्रनाम।
जो दूजन के भक्त को प्रान हरत परिनाम ॥१८॥

और

उलटे ते हूँ बनत है काज किये अति हेत।
जो जम जी सब को हरत सोइ जीविका देत ॥१९॥

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें।

[घूमता है]

शिष्य—रावल जी! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

दूत—अरे ब्राह्मण! यह किसका घर है!

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्यजी का।

दूत—(हँसकर) अरे ब्राह्मण! तब तो यह मेरे गुरुभाई ही

* उस काल में एक चाल के फकीर जम का चित्र दिखला कर संसार की अनित्यता के गीत गाकर भीख माँगते थे।

का घर है मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूँगा।

शिष्य—(क्रोध से) छिः मूर्ख ! क्या तू गुरुजी से भी धर्म विशेष जानता है ?

दूत—अरे ब्राह्मण ! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे से लोग जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख ! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जायगी ?

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलावे कि चंद्र किसको अच्छा नहीं लगता ?

शिष्य—मूर्ख ! इसको जानने से गुरु को क्या काम ?

दूत—यही तो कहता हूँ कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इस के जानने से क्या होता है ? तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चंद्र प्यारा नहीं है। देख—

अदपि होत सुंदर कमल उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चंद सों करत विरोध बनाव ॥२०॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) अहा ! "मैं चंद्रगुप्त के बैरियों को जानता हूँ" यह कोई गूढ़ वचन से कहता है।

शिष्य—चल मूर्ख ! क्या बेठिकाने की बकवाद कर रहा है।

दूत—अरे बम्हना ! यह सब ठिकाने की बातें होंगी।

शिष्य—कैसे होंगी ?

दूत—जो कोई सुननेवाला और समझनेवाला होय।

चाणक्य—रावलजी ! बेखटके चले आइये, यहाँ आपको सुनने और समझनेवाले मिलेंगे।

दूत—आया (आगे बढ़कर) जय हो महाराज की।

चाणक्य—(देखकर आप ही आप) कामों की भीड़ से यह नहीं निश्चय होता कि निपुणक को किस बात के जानने के लिए

भेजा था। अरे जाना, इसे लोगों के जी क

था। (प्रकाश) आओ आओ, कहो अच्छे

दूत—जो आज्ञा। (भूमि में बैठना है)

चाणक्य—कहो जिस काम को गये थे उ
चंद्रगुप्त को लोग चाहते हैं कि नहीं ?

दूत—महाराज ! आपने पहले ही ऐसा प्र
कोई चंद्रगुप्त से विराग न करे इस हेतु सारी
चंद्रगुप्त में अनुरक्त है, पर राक्षस मंत्री के दृढ़
हैं जो चंद्रगुप्त की वृद्धि नहीं सह सकते।

चाणक्य—(क्रोध से) अरे ! कह, कौन अपना
सह सकते, उनके नाम तू जानता है ?

दूत—जो नाम न जानता तो आपके सामने
निवेदन करता ?

चाणक्य—मैं सुना चाहता हूँ कि उनके क्या नाम

दूत—महाराज सुनिये। पहले तो शत्रु का पक्षपात क
क्षपणक है।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) हमारे शत्रुओं
पक्षपाती क्षपणक है ? (प्रकाश) उसका नाम क्या है ?

दूत—जीवसिद्धि नाम है।

चाणक्य—तूने कैसे जाना कि क्षपणक मेरे शत्रुओं
पक्षपाती है ?

दूत—क्योंकि उसने राक्षस मंत्री के कहने से देव पर्वतेश्वर
पर विषकन्या का प्रयोग किया।

चाणक्य—(आप ही आप) जीवसिद्धि तो
है। (प्रकाश) हाँ, और कौन है ?

दास कायथ है।

चाणक्य—(हँसकर आप ही आप) कायथ कोई बड़ी बात नहीं है तो भी क्षुद्र शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसी हेतु तो मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बनाकर उसके पास रक्खा है। (प्रकाश) हाँ, तीसरा कौन है?

दूत—(हँसकर) तीसरा तो राक्षस मंत्री का मानो हृदय ही पुष्पपुरवासी चन्दनदास नामक वह बड़ा जौहरी है जिसके घर में मंत्री राक्षस अपना कुटुम्ब छोड़ गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) अरे यह उसका बड़ा अंतरंग मित्र होगा क्योंकि पूरे विश्वास बिना राक्षस अपना कुटुम्ब यों न छोड़ जाता। (प्रकाश) भला तूने यह कैसे जाना कि राक्षस मंत्री यहाँ अपना कुटुम्ब छोड़ गया?

दूत—महाराज! इस "मोहर" की अँगूठी से आपको विश्वास होगा। (अँगूठी देता है)।

चाणक्य—(अँगूठी लेकर और उसमें राक्षस का नाम बाँच कर प्रसन्न होकर आपही आप) अहा! मैं समझता हूँ कि राक्षस ही मेरे हाथ लगा। (प्रकाश) भला तुमने यह अँगूठी कैसे पाई? मुझसे सब वृत्तांत तो कहो।

दूत—सुनिये। जब मुझे आपने नगर के लोगों का भेद लेने भेजा तब मैंने यह सोचा कि बिना भेस बदले मैं दूसरे के घ[र] में न घुसने पाऊँगा, इससे मैं जोगी का भेस करके जमराज क[ा] चित्र हाथ में लिये फिरता फिरता चन्दनदास जौहरी के घर [मे]ं चला गया और वहाँ चित्र फैलाकर गीत गाने लगा।

चाणक्य—हाँ तब?

दूत—तब महाराज! कौतुक देखने को एक पाँच बरस क[ा] बड़ा सुंदर बालक एक परदे के आड़ से बाहर निकला। उ[स]

समय घर के भीतर स्त्रियों में बड़ा कलकल हुआ कि
कहाँ गया ?" इतने में एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुख
कर देखा और लड़के को झट पकड़ ले गई, पर पुरुष की
में स्त्री की उँगली पतली होती है इससे द्वार ही पर यह
गिर पड़ी और मैं उस पर राक्षस मंत्री का नाम देखकर आ
पास उठा लाया।

चाणक्य—वाह-वाह ! क्यों न हो, अच्छा जाओ, मैंने
सुन लिया। तुम्हें इसका फल शीघ्र ही मिलेगा।

दूत—जो आज्ञा (जाता है)।

चाणक्य—शारंगरव ! शारंगरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी ?

चाणक्य—बेटा ! क़लम, दावात, काग़ज़ तो लाओ।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर ले आता है) गुरुजी !
ले आया।

चाणक्य—(लेकर आप ही आप) क्या लिखूँ, इसी पत्र से
राक्षस को जीतना है।

[प्रतिहारी आती है]

प्रति०—जय हो ! महाराज की जय हो !

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह वाह ! कैसा सगुन
आ कि कार्यारंभ ही में जय शब्द सुनाई पड़ा। (प्रकाश) कहो
णोत्तरा ! क्यों आई हो ?

प्रति०—महाराज ! राजा चंद्रगुप्त ने प्रणाम कहा है और
है कि मैं पर्वतेश्वर की क्रिया किया चाहता हूँ इससे आपकी
हो तो उनके पहिरे आभरणों को पंडित ब्राह्मणों को दूँ।

चाणक्य—(हर्ष से आपही आप) वाह ! चंद्रगुप्त वाह ! क्यों न
रे जी की बात सोचकर संदेशा कहला भेजा है। (प्रकाश)

शोणोत्तरा! चन्द्रगुप्त से कहो कि "वाह! बेटा वाह! क्यों न हो, बहुत अच्छा विचार किया, तुम व्यवहार में बड़े ही चतुर हो, इससे जो सोचा है सो करो, पर पर्वतेश्वर के पहिरे हुए आभरण गुणवान् ब्राह्मणों को देने चाहिएँ, इससे ब्राह्मण मैं चुनके भेजूँगा।

प्रति० —जो आज्ञा, महाराज! (जाती है)

चाणक्य—शारंगरव! विश्वावसु आदि तीनों भाइयों से कहो कि जाकर चन्द्रगुप्त से आभरण लेकर मुझसे मिलें।

शिष्य—जो आज्ञा। (जाता है)

चाणक्य—(आप ही आप) पीछे तो यह लिखें पर पहले क्या लिखें? (सोचकर) अहा! दूतों के मुख से ज्ञात होता है कि उस म्लेच्छ-राजसेना में से प्रधान पाँच राजा परम भक्ति से राक्षस की सेवा करते हैं।

> प्रथम चित्रवर्मा कुलूत को राजा भारी।
> मलय-देशपति सिंहनाद दूजो बलधारी॥
> तीजो पुष्कराक्ष अहै कश्मीर देस को।
> सिंधुसेन पुनि सिंधु-नृपति अति उग्र भेस को॥

मेघाख पाँचवों प्रबल अति, बहु हय जुत पारस नृपति।
अब चित्रगुप्त इन नाम को मेटहिं, हम जब लिखहिं इति॥२४॥*

(कुछ सोचकर) अथवा न लिखूँ अभी सब बात यों ही रहै।
(प्रकाश) शारंगरव! शारंगरव!

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी!

चाणक्य—बेटा! वैदिक लोग कितना भी अच्छा लिखें तो भी इनके अक्षर अच्छे नहीं होते; इससे सिद्धार्थक से कहो (कान

* अपने मन में जब हम इनका नाम लिखते हैं तो निश्चय वे मर चुके। इससे अब चित्रगुप्त अपने खाते से इनका नाम काट दे, न वे जीते रहेंगे न चित्रगुप्त को लेखा रखना पड़ेगा।

में कहकर) कि वह शकटदास के पास जाकर यह स
लिखवाकर और "किसी का लिखा कुछ कोई आप ह
यह सरनामे पर नाम-बिना लिखवाकर हमारे पास आ
शकटदास से यह न कहे कि चाणक्य ने लिखवाया है

शिष्य—जो आज्ञा। (जाता है)

चाणक्य—(आप ही आप) अहा ! मलयकेतु को तो
लिया। [चिट्ठी लेकर सिद्धार्थक आता है]

सि०—जय हो महाराज की, जय हो, महाराज !
शकटदास के हाथ का लेख है।

चाणक्य—(लेकर देखता है) वाह ! कैसे सुंदर अक्षर
(पढ़कर) बेटा, इस पर यह मोहर कर दो।

सि०—जो आज्ञा, (मोहर करके) महाराज, इस पर
मोहर हो गई, अब और कहिये क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! हम तुम्हें एक अपने निज के काम में
भेजा चाहते हैं।

सि०—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है।
कहिये, यह दास आपके कौन काम आ सकता है ?

चाणक्य—सुनो, पहले जहाँ सूली दी जाती है वहाँ जाकर
रोष-पूर्वक फाँसी देनेवालों को दाहिनी आँख* दबाकर समझा
देना और जब वे तेरी बात समझकर डर से इधर-उधर भाग जायें
तब तुम शकटदास को लेकर राक्षस मंत्री के पास चले जाना।
वह अपने मित्र के प्राण बचाने से तुम पर बड़ा प्रसन्न होगा
और तुम्हें पारितोषिक देगा, तुम उसको लेकर कुछ दिनों तक
राक्षस ही के पास रहना और जब और भी लोग पहुँच जायें

* चाण्डालों को पहले से समझा दिया था कि जो आदमी दाहिनी आँख
दबावे उसे हमारा मनुष्य समझकर फरार कर आना।

—जो आज्ञा। (बाहर जाकर चंदनदास को लेक
इधर आइये, सेठजी !
—(आप ही आप) यह चाणक्य ऐसा निर्दय है कि यह
क किसी को बुलावे तो लोग बिना अपराध भी इससे
फिर कहाँ मैं इसका नित्य का अपराधी। इसीसे मैंने
क तीन महाजनों से कह दिया है कि दुष्ट चाणक्य जो
ट ले तो आश्चर्य नहीं, इससे स्वामी राक्षस का कुटुंब
ले जाओ, मेरी जो गति होनी है वह हो।
—इधर आइये साहजी !
—आया। (दोनों घूमते हैं)
य—(देखकर) आइये साहजी ! कहिये, अच्छे तो
, यह आसन है।
—(प्रणाम करके) महाराज ! आप नहीं जानते कि
कार अनादर से भी विशेष दुःख का कारण होता
प्रथ्वी पर ही बैठूँगा।
—वाह ! आप ऐसा न कहिये। आपको तो हम लोगों
व्यवहार उचित ही है; इससे आप आसन पर बैठिये।
—(आप ही आप) कोई बात तो इस दुष्ट ने जानी।
आज्ञा। (बैठता है)
—कहिये साहजी ! चंदनदासजी ! आपको
भ तो होता है न ?
-(स्वगत) यह अधिक आदर शंका उत्पन्न करता
महाराज ! क्यों नहीं, आपकी कृपा से सब धनिज-
भाँति चलता है।

चा०—कहिये साहजी ! पुराने राजाओं के गुण चन्द्रगुप्त के दोषों को देखकर कभी लोगों को स्मरण आते हैं ?

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! शरद् ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की भाँति शोभित चन्द्रगुप्त को देखकर कौन नहीं प्रसन्न होता ?

चा०—जो प्रजा ऐसी प्रसन्न है, तो राजा भी प्रजा से कुछ अपना भला चाहते हैं।

चंदन०—महाराज ! जो आज्ञा। मुझसे कौन और कितनी वस्तु चाहते हैं ?

चा०—सुनिये, साहजी ! यह नंद का राज* नहीं है, चन्द्रगुप्त का राज्य है। धन से प्रसन्न होनेवाला तो वह लालची नंद ही था, चन्द्रगुप्त तो तुम्हारे ही भले से प्रसन्न होता है।

चंदन०—(हर्ष से) महाराज ! यह तो आपकी कृपा है।

चा०—पर यह तो मुझसे पूछिये कि वह भला किस प्रकार से होगा ?

चंदन०—कृपा करके कहिये।

चा०—सौ बात की एक बात यह है कि राजा के विरुद्ध कामों को छोड़ो।

चंदन०—महाराज ! वह कौन अभागा है जिसे आप राज-विरोधी समझते हैं ?

चा०—उनमें पहिले तो तुम्हीं हो।

चंदन०—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! राम ! भला तिनके से और अग्नि से कैसा विरोध ?

चा०—विरोध यही है कि तुमने राजा के शत्रु राक्षस मंत्री

---

* यहाँ तुच्छता प्रकट करने के लिये राज्य का अपभ्रंश राज लिखा गया है।

का कुटुंब अब तक घर में रख छोड़ा है।

चं०—महाराज! यह किसी दुष्ट ने आपसे झूठ कह दिया है।

चा०—सेठजी! डरो मत, राजा के भय से पुराने राजा के सेवक लोग अपने मित्रों के पास बिना चाहे भी कुटुंब छोड़कर भाग जाते हैं, इससे इसके छिपाने ही में दोष होगा।

चं०—महाराज! ठीक है, पहले मेरे घर पर राक्षस मंत्री का कुटुंब था।

चा०—पहले तो कहा कि किसी ने झूठ कहा है। अब कहते हो, था। यह गबड़े की बात कैसी?

चं०—महाराज! इतना ही मुझसे बातों में फेर पड़ गया।

चा०—सुनो, चन्द्रगुप्त के राज्य में छल का विचार नहीं होता, इससे राक्षस का कुटुंब दो तो तुम सच्चे हो जाओगे।

चं०—महाराज! मैं कहता हूँ न, पहले राक्षस का कुटुंब था।

चा०—तो अब कहाँ गया?

चं०—न-जाने कहाँ गया।

चा०—(हँसकर) सुनो, सेठजी! तुम क्या नहीं जानते कि साँप तो सिर पर बूटी पहाड़ पर। जैसा चाणक्य ने नंद को......(इतना कहकर लाज से चुप रह जाता है)

चं०—(आप ही आप)

> प्रिय दूर, घन गरजहीं, अहो! दुःख अति घोर।
> औषधि दूर हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर ॥२२॥

चा०—चन्द्रगुप्त को अब राक्षस मंत्री राज पर से उठा देगा यह आशा छोड़ो, क्योंकि देखो —

> नृप नंद जीवत नीतिबल सों मति रही जिनकी भली।
> ते चन्द्रगुप्तहि मंत्रि करि [illegible]॥

सो श्री सिमिटि अब आय लिपटी चन्द्रगुप्त नरेस सों।
तेहि दूर को करि सकै ? चाँदनि छुटत कहुँ राकेस सों ॥२३॥

और भी

("सदा दंति के कुंभ को" इत्यादि फिर से पढ़ता ।)

चंदन०—(आप ही आप) अब तुमको सब कहना फबता है।

(नेपथ्य में) हटो हटो—

चा०—शारंगरव ! यह क्या कोलाहल है, देखो तो ?

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर आकर फिर आकर) महाराज राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा से राजद्वेषी जीवसिद्धि क्षपणक निरादर-पूर्वक नगर से निकाला जाता है।

चा०—क्षपणक आहा ! हा ! अथवा राजविरोध का फल भोगे। सुनो, चंदनदास ! देखो, राजा अपने द्वेषियों को कैसा कड़ा दंड देता है। मैं तुम्हारे भले की कहता हूँ। सुनो और राक्षस का कुटुंब देकर जन्म-भर राजा की कृपा से सुख भोगो।

चंदन०—महाराज ! मेरे घर राक्षस मंत्री का कुटुंब नहीं है।

(नेपथ्य में कलकल होता है)

चा०—शारंगरव ! देख तो, यह क्या कलकल होता है।

शिष्य—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज ! राजा की आज्ञा से राजद्वेषी शकटदास कायस्थ को सूली देने ले जाते हैं।

चा०—राजविरोध का फल भोगे। देखो, सेठजी ! राजा अपने विरोधियों को कैसा कड़ा दंड देता है ! इससे राक्षस का कुटुंब छिपाना वह कभी न सहेगा। इससे उसका कुटुंब देकर तुमको अपना प्राण और कुटुंब बचाना हो तो बचाओ।

चंदन०—महाराज ! क्या आप मुझे डर दिखाते हैं ? मेरे यहाँ अमात्य राक्षस का कुटुंब है ई नहीं है, पर जो होता तो भी

मैं न देता।

चा०—क्या चंदनदास ! तुमने यही निश्चय किया है ?

चन्दन०—हाँ ! मैंने यही दृढ़ निश्चय किया है।

चा०—(आप ही आप) वाह ! चंदनदास ! वाह ! क्यों न हो !

दूजे के हित प्रान दै करै धर्म प्रतिपाल।
को ऐसो शिवि के बिना दूजो है या काल ? ॥२४॥

(प्रकाश) क्या, चंदनदास ! तुमने यही निश्चय किया है ?

चंदन०—हाँ ! हाँ ! मैंने यही निश्चय किया है।

चा०—(क्रोध से) दुरात्मा दुष्ट बनिया ! देख, राजकोप का कैसा फल पाता है !

चंदन०—(बाँह फैलाकर) मैं प्रस्तुत हूँ, आप जो चाहिए अभी दंड दीजिए।

चा०—(क्रोध से) शारंगरव ! कालपाशिक, दंडपाशिक से मेरी आज्ञा कहो कि अभी इस दुष्ट बनिये को दंड दें। नहीं ठहरो, दुर्गपाल और विजयपाल से कहो कि इसके घर का सारा धन ले लें और इसको कुटुंब-समेत पकड़कर बाँध रक्खें, तब तक मैं चंद्रगुप्त से कहूँ। वह आपही इसके सर्वस्व और प्राणके हरणकी आज्ञा देगा।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज ! सेठजी ! इधर आइये।

चंदन०—लीजिये महाराज ! यह मैं चला (उठकर चलता है आप ही आप) अहा ! मैं धन्य हूँ कि मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं ! अपने हेतु तो सभी मरते हैं।

(दोनों बाहर जाते हैं)

चा०—(हर्ष से) अब ले लिया है राक्षस को, क्योंकि—

जिमि इन तृन सम प्रान तजि कियो मित्र को त्रान।
तिमि सोऊ निज मित्र अरु कुल रखिहै दै प्रान ॥२५॥

[नेपथ्य में कलकल]

चा०—शारंगरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी !

चा०—देख तो यह कैसी भीड़ है ?

शि०—(बाहर जाकर फिर आश्चर्य से आकर) महाराज ! शकटदास को सूली पर से उतार कर सिद्धार्थक लेकर भाग गया।

चा०—(आपही आप) वाह सिद्धार्थक ! काम का आरंभ तो किया (प्रकाश) हैं क्या ले गया ? (क्रोध से) बेटा ! दौड़ कर भागुरायण से कहो कि उसको पकड़े ।

शि०—(बाहर जाकर आता है और विषाद से) गुरुजी ! भागुरायण तो पहिले ही से कहीं भाग गया है।

चा०—(आप ही आप) निज काज साधने के लिए जाय । (क्रोध से प्रकाश) भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुराज, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा से कहो कि दुष्ट भागुरायण को पकड़ें।

शि०—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आकर विषाद से) महाराज ! बड़े दुःख की बात है कि बेड़े का बेड़ा हलचल हो रहा है। भद्रभट इत्यादि तो सब पिछली ही रात भाग गये ।

चा०—(आप ही आप) सब काम सिद्ध करें (प्रकाश) बेटा, सोच मत करो।

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सों भागहीं ।
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहि जिय कछु नहीं ॥
सत सेन हूँ सो अधिक साधिनि काज की जेहि जग कहै।
सो नंदकुल की खननहारी बुद्धि नित मोमें रहै ॥२६॥

(उठकर और आकाश की ओर देखकर) अभी भद्रभटादिकों को पकड़ता हूँ (आपही आप) दुरात्मा राक्षस ! अब मुझसे भागकर कहाँ जायगा ? देख—

द्वितीय अंक

स्थान—राजपथ

मदारी—अललललललल! नाग लाए, साँप लाए!

तंत्र युक्ति सब जानहीं मंडल रचहिं विचार।

मंत्र रक्षहीं ते करहिं अहि नृप को उपकार ॥२८॥

(आकाश में देखकर*) महाराज! क्या कहा? 'तू कौन है?' महाराज! मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ खेलूँगा?' तो आप काम क्या करते हैं, यह तो कहिए? (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा—'मैं राज-सेवक हूँ?' तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा, 'कैसे?' मंत्र और जड़ी बिना मदारी और आँकुस बिना मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नये अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक, ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं। (ऊपर देखकर) यह देखते देखते कहाँ चला गया? (फिर ऊपर देखकर) क्या महाराज! पूछते हो कि

---

* 'आकाश में देखकर' या 'ऊपर देखकर' का आशय यह है मानो दूसरे से बात करता है। इसे "आकाश-भाषित" कहते हैं, विशेष विवरण परिशिष्ट "क" में देखिए।

'इन पिटारियों में क्या है ?' इन पिटारियों में मेरी जीविका के सर्प हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि 'मैं देखूँगा ?' वाह वाह महाराज ! देखिये देखिये, मेरी बोहनी हुई, कहिये इसी स्थान पर खोलूँ ? परन्तु यह स्थान अच्छा नहीं है। यदि आप को देखने की इच्छा हो तो आप इस स्थान में आइये मैं दिखाऊँ। (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'यह स्वामी राक्षस मंत्री का घर है, इसमें मैं घुसने न पाऊँगा ?' तो आप जायँ, महाराज ! मैं तो अपनी जीविका के भाव से सभी के घर जाता आता हूँ। अरे ! क्या वह गया ? (चारों ओर देखकर) अहा ! बड़े आश्चर्य की बात है, जब मैं चाणक्य की रक्षा में चन्द्रगुप्त को देखता हूँ तब समझता हूँ कि चन्द्रगुप्त ही राज्य करेगा, पर जब राक्षस की रक्षा में मलयकेतु को देखता हूँ तब चन्द्रगुप्त का राज गया सा दिखाई देता है। क्योंकि—

चाणक्य ने लै जदपि बाँधी बुद्धिरूपी डोर सों।
करि अचल लक्ष्मी मौर्यकुल में नीति के निज जोर सों॥
पै तदपि राक्षस चातुरी करि हाथ में ताकों करै।
गहि ताहि खींचत आपनी दिसि मोहिं यह जानी परै॥२९॥

सो इन दोनों परम नीतिचतुर मंत्रियों के विरोध में नंदकुल की लक्ष्मी संशय में पड़ी है।

दोऊ सचिव-विरोध सों जिमि बिच जुग गजराय।
हथिनी-सी लक्ष्मी विचल इत उत झोंका खाय॥३०॥

तो चलूँ अब मंत्री राक्षस से मिलूँ।

[जवनिका उठती है और आसन पर बैठा राक्षस और पास प्रियंवदक-नामक सेवक दिखाई देते हैं।]

राक्षस—(ऊपर देखकर आँखों में आँसू भरकर) हा ! बड़े कष्ट की बात है—

गुन, नीति, बल सों जीति अरि जिमि आपु आदयगन हयो।
तिमि नंद को यह विपुल कुल विधि वाम सों सब नसि गयो॥
यहि सोच मैं मोहि दिवस अरु निसि नित्य जागत बीतहीं।
यह लखौ चित्र विचित्र मेरे भाग के बिनु भीतहीं॥३१॥

अथवा

विनु भक्ति भूले, बिनहिं स्वारथ-हेतु हम यह पन लियो।
बिनु प्रान के भय, बिनु प्रतिष्ठा-लाभ सब अबलौं कियो॥
सब छाँड़िकै परदासता यहि हेतु नित प्रति हम करैं।
जो स्वर्ग में हूँ स्वामि मम निज शत्रु हत लखि सुख भरैं॥३२॥

(आकाश की ओर देखकर दुःख से) हा! भगवती लक्ष्मी!
तू बड़ी अगुणज्ञा है। क्योंकि—

निज तुच्छ सुख के हेतु तजि गुनरासि नंद नृपाल को।
अब सूद्र में अनुरक्त है लपटी सुधा मनु ब्याल को॥
ज्यों मत्त गज के मरत मद की धार ता सायहि नसै।
त्यों नंद के साथहि नसी किन! निलज! अजहूँ जग बसै॥३३॥

अरे पापिन!

का जग में कुलवंत नृप जीवत रह्यौ न कोय।
जो तू लपटी सूद्र सों नीच-गामिनी होय॥३४॥

अथवा

बारवधू-जन को अहै सहजहिं चपल सुभाव।
तजि कुलीन गुनियन करहिं ओछे जन सों चाव॥३५॥

तो हम भी अब तेरा आधार ही नाश किये देते हैं। (कुछ सोचकर) हम मित्रवर चंदनदास के घर अपना कुटुंब छोड़कर बाहर चले आये सो अच्छा ही किया। वहाँ के निवासी महाराज नंद में अनुरक्त हैं और हमारे सब उद्योगों में सहायक होते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि राक्षस कुसुमपुर के आक्रमण के बारे में

उदासीन नहीं हैं। वहाँ विषादिक से चन्द्रगुप्त के नाश करने को और सब प्रकार से शत्रु का दाँव-घात व्यर्थ करने को बहुत-सा धन देकर शकटदास को छोड़ ही दिया है। प्रतिक्षण शत्रुओं का भेद लेने को और उनका उद्योग नाश करने को जीवसिद्धि इत्यादि सुहृद नियुक्त ही हैं। सो अब तो—

विषवृक्ष, अहिसुत, सिंहपोत समान जा दुखरास कों।
नृपनंद निज सुत जानि पाल्यौ, सकुल निज असु नास कों॥
ता चंद्रगुप्तहिं बुद्धि-सर मम तुरत मारि गिराइहै।
जो दुष्ट दैव न कवच बनिकै असह आड़े आइहै॥३६॥

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—(आप ही आप)

नृपनंद काम-समान चानक-नीति-जर जरजर भयो।
पुनि धर्म सम नृपचंद, तिन तन पुरहु क्रम सों बढ़ि लयो॥
अवकास लहि तेहि लोभ राक्षस जदपि जीतन जाइहै।
पै सिथिल बल भे नाहिं कोऊ बिधिहु सों जय पाइहै॥३७॥

(देखकर) यह मंत्री राक्षस है। (आगे बढ़कर) मंत्री! आपका कल्याण हो।

राक्षस—जाजलक! प्रणाम करता हूँ। अरे प्रियंवदक! आसन ला।

प्रियंवदक—(आसन लाकर) यह आसन है, आप बैठें।

कंचुकी—(बैठकर) मंत्री! कुमार मलयकेतु ने आपको यह कहा है कि "आपने बहुत दिनों से अपने शरीर का सब शृंगार छोड़ दिया है, इससे मुझे बड़ा दुःख होता है। यद्यपि आपको अपने स्वामी के गुण सहसा नहीं भूलते और उनके वियोग के दुःख में यह सब कुछ नहीं अच्छा लगता तथापि मेरे कहने से आप इनको पहिरें।" (आभरण दिखाता है) मंत्री! ये आभरण

कुमार ने अपने अंग से उतार कर भेजे हैं आप इन्हें धारण करें।

राक्षस—जाजलक ! कुमार से कह दो कि तुम्हारे गुणों के आगे मैं स्वामी के गुण भूल गया। पर—

> इन दुष्ट बैरिन सों दुखी निज अंग नाहिं सँवारिहौं।
> भूषन बसन सिंगार तब लौं हौं न तन कछु धारिहौं॥
> जब लौं न सब रिपु नासि पाटलिपुत्र फेरि बसाइहौं।
> हे कुँवर! तुमको राज दे सिर अचल छत्र फिराइहौं॥३८॥

कंचुकी—अमात्य ! आप जो न करो सो थोड़ा है, यह बात कौन कठिन है ? पर कुमार की यह पहली बिनती तो मानने ही के योग्य है।

राक्षस—मुझे तो जैसी कुमार की आज्ञा माननीय है वैसी ही तुम्हारी भी; इससे मुझे कुमार की आज्ञा मानने में कोई विचार नहीं है।

कंचुकी—(आभूषण पहिराता है) कल्याण हो महाराज ! मेरा काम पूरा हुआ।

राक्षस—मैं प्रणाम करता हूँ।

कंचुकी—मुझको जो आज्ञा हुई थी सो मैंने पूरी की। (जाता है)

राक्षस—प्रियंवदक ! देख तो मेरे मिलने को द्वार पर कौन खड़ा है।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (आगे बढ़कर सँपेरे के पास आकर) आप कौन हैं ?

सँपेरा—मैं जीर्णविष-नामक सँपेरा हूँ और राक्षस मंत्री के सामने मैं साँप खेलना चाहता हूँ। मेरी यही जीविका है।

प्रियंवदक—तो ठहरो, हम अमात्य से निवेदन कर लें (राक्षस के पास जाकर) महाराज ! एक सँपेरा है, वह आपको अपना करतब दिखलाया चाहता है।

राक्षस—(बाईं आँख का फड़कना देखकर, आप ही आप) हैं, आज पहिले ही साँप दिखाई पड़े। (प्रकाश) प्रियंवदक! मेरा साँप देखने को जी नहीं चाहता सो इसे कुछ देकर विदा कर।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (सँपेरे के पास जाकर) लो, मंत्री तुम्हारा कौतुक बिना देखे ही तुम्हें यह देते हैं, जाओ।

सँपेरा—मेरी ओर से यह विनती करो कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ, किंतु भाषा का कवि भी हूँ। इससे जो मंत्रीजी मेरी कविता मेरे मुख से न सुना चाहें तो यह पत्र ही दे दो पढ़ लें। (एक पत्र देता है)

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास आकर) महाराज! यह सँपेरा कहता है कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ भाषा का कवि भी हूँ; इससे जो मंत्रीजी मेरी कविता मेरे मुख से सुनना न चाहें तो यह पत्र ही दे दो, पढ़ लें। (पत्र देता है)

राक्षस—(पत्र पढ़ता है)

सकल कुसुम-रस पान करि, मधुप रसिक सिरताज।
जो मधु त्यागत ताहि तें, होत सबै जगकाज॥१९॥

(आप ही आप) अरे!! "मैं कुसुमपुर का वृत्तान्त जाननेवाला आपका दूत हूँ" इस दोहे से यह ध्वनि निकलती है। अहा! मैं तो कामों से ऐसा घबड़ा रहा हूँ कि अपने भेजे भेदिया लोगों को भी भूल गया। अब स्मरण आया, यह तो सँपेरा बना हुआ विराधगुप्त कुसुमपुर से आया है। (प्रकाश) प्रियंवदक! इसको बुलाओ यह सुकवि है। मैं भी इसकी कविता सुना चाहता हूँ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा (सँपेरे के पास जाकर) चलिये मंत्रीजी आपको बुलाते हैं।

सँपेरा—(मंत्री के सामने जाकर और देखकर आप ही आप) अरे यही मंत्री राक्षस हैं! अहा!

लै वाम बाहु-लतादि राखत कंठ सों लसि लसि परै।
तिमि धरे दच्छिन बाहु को हू गोद में बिचलै गिरै॥
जा बुद्धि के डर होय संकित नृप-हृदय कुच नहिं धरै।
अजहूँ न लक्ष्मी चन्द्रगुप्तहिं गाढ़ आलिंगन करै॥४०॥

(प्रकाश) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर) अरे विराध—(संकोच से बात उड़ाकर) प्रियंवदक! मैं जब तक सर्पों से अपना जी बहलाता हूँ—तब तक सबको लेकर तू बाहर ठहर।

प्रियंवदक—जो आज्ञा। (बाहर जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! इस आसन पर बैठो।

विराधगुप्त—जो आज्ञा। (बैठता है)

राक्षस—(खेद के सहित निहार कर) हा महाराज नंद के आश्रित लोगों की यह अवस्था! (रोता है)

विराधगुप्त—आप कुछ सोच न करें; भगवान् की कृपा से शीघ्र ही वही अवस्था होगी।

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! कहो, कुसुमपुर का वृत्तांत कहो।

विराधगुप्त—महाराज! कुसुमपुर का वृत्तांत बहुत लंबा चौड़ा है, इससे जहाँ से आज्ञा हो वहाँ से कहूँ।

राक्षस—मित्र! चन्द्रगुप्त के नगर-प्रवेश के पीछे मेरे भेजे हुए विष देनेवाले लोगों ने क्या किया यह सुना चाहता हूँ।

विराधगुप्त—सुनिये, शक, यवन, किरात, कांबोज, पारस, बाह्लीकादिक देशों के चाणक्य के मित्र राजों की सहायता पाकर चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर के बलरूपी समुद्र से कुसुमपुर चारों ओर से घिर गया।

राक्षस—(कृपाण खींचकर क्रोध से) हैं! मेरे जीते कौन कुसुमपुर घेर सकता है? प्रवीरक! प्रवीरक!

चढ़ौ लै सरै धाइ घेरौ अटा को।
धरौ द्वार पै कुंजरैं ज्यों घटा को॥
कहौ जोधनै मृत्यु को जीति धावैं।
चलैं संग मै छांड़िकै कीर्ति पावैं॥४१॥

विराधगुप्त—महाराज! इतनी शीघ्रता न कीजिये मेरी बात सुन लीजिये। मैं अतीत की बातें कह रहा हूँ।

राक्षस—क्या अतीत की बातें हैं? मैंने जाना कि इस समय की घटना है। (शस्त्र छोड़कर आंखों में आंसू भरकर) हा! देव नंद! राक्षस को तुम्हारी कृपा कैसे भूलेगी?

हैं जहँ झुंड खड़े गजमेघ के आज्ञा करौ तहँ राक्षस! जायकै।
त्यों ये तुरंग अनेकन हैं, तिनहूँ के प्रबंधहि राखौ बनायकै॥
पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं, काज करौ तिनको चित लायकै।
यों कहि एक हमैं तुम मानत हे, निज काज हज़ार बनायकै॥४२॥

विराधगुप्त—तब चारों ओर से कुसुमनगर के बहुत दिनों तक अवरोधित रहने से नगरवासी बेचारे भीतर ही भीतर घिरे घिरे घबड़ा गये। उनकी उदासी देखकर सुरंग के मार्ग से राजा सर्वार्थसिद्धि तपोवन में चला गया और स्वामी के विरह से आपके सब लोग शिथिल होगये। तब अपने जय की डौंडी सब नगर में शत्रु लोगों ने फिरवादी और आपके भेजे हुए लोग सुरंग में इधर उधर छिप गये और जिस विषकन्या को आपने चन्द्रगुप्त के नाश हेतु भेजा था उससे तपस्वी पर्वतेश्वर मारा गया।

राक्षस—अहा मित्र! देखो, कैसा आश्चर्य हुआ!

जो विषमयी नृप-चद्र-वध-हित नारि राखी लायकै।
तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपायकै॥
जिमि करन शक्ति अमोघ अरजुन हेत धरी छिपायकै।
पै कृष्ण के मत सों घटोत्कच पै परी घहरायकै॥४३॥

विराधगुप्त—महाराज ! समय की सब उलटी गति है। क्या कीजियेगा ?

राक्षस—हाँ ! तब क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तब पिता का वध सुनकर कुमार मलयकेतु नगर से निकलकर चले गये और पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक पर उन लोगों ने अपना विश्वास जमा लिया। तब उस दुष्ट चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का प्रवेश-मुहूर्त्त प्रसिद्ध करके नगर के सब बढ़ई और लोहारों को बुलाकर एकत्र किया और उनसे कहा कि "महाराज के नंदभवन में गृहप्रवेश का मुहूर्त्त ज्योतिषियों ने आज ही आधी रात का दिया है, इससे बाहर से भीतर तक सब द्वारों को जाँच लो"। तब उससे बढ़ई लोहारों ने कहा कि "महाराज ! चन्द्रगुप्त का गृहप्रवेश जानकर दारुवर्म ने प्रथम द्वार तो पहले ही से सोने के तोरणों से शोभित कर रक्खा है। भीतर के द्वारों को हम लोग ठीक करते हैं।" यह सुनकर चाणक्य ने कहा कि "बिना कहे ही दारुवर्म ने बड़ा काम किया इससे उसको चतुराई का पारितोषिक शीघ्र ही मिलेगा।"

राक्षस—(आश्चर्य से) चाणक्य प्रसन्न हो यह कैसी बात है ? इससे दारुवर्म का यत्न या तो उलटा होगा या निष्फल होगा, क्योंकि उसने बुद्धि-मोह से या राजभक्ति से बिना समय ही चाणक्य के जी में अनेक सन्देह और विकल्प उत्पन्न कराये। हाँ, फिर ?

विराधगुप्त—फिर उस दुष्ट चाणक्य ने बुलाकर सबको सहेज दिया कि आज आधी रात को प्रवेश होगा, और उसी समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक और चन्द्रगुप्त को एक आसन पर बिठा कर पृथ्वी का आधा आधा भाग कर दिया।

राक्षस—पर्वतेश्वर के भाई वैरोधक को आधा राज मिला, क्या यह पहिले ही उसने सुना दिया ?

विराधगुप्त—हाँ, तो इससे क्या हुआ ?

राक्षस—(आप ही आप) निश्चय यह ब्राह्मण बड़ा धूर्त है, कि इसने उस सीधे तपस्वी से इधर उधर की चार बातें बनाकर पर्वतेश्वर के मारने के अपयश-निवारण के हेतु यह उपाय सोचा। (प्रकाश) अच्छा कहो, तब ?

विराधगुप्त—तब यह तो उसने पहिले ही प्रकाशित कर दिया था कि आज रात को गृहप्रवेश होगा, फिर उसने वैरोधक का अभिषेक कराया और बड़े बड़े बहुमूल्य स्वच्छ मोतियों का उसको कवच पहिराया और अनेक रत्नों से जड़ा सुन्दर मुकुट उसके सिर पर रक्खा और गले में अनेक सुगंध के फूलों की माला पहिराई, जिससे वह एक ऐसे बड़े राजा की भाँति होगया कि जिन लोगों ने उसे सर्वदा देखा था वे भी न पहचान सके। फिर उस दुष्ट चाणक्य की आज्ञा से लोगों ने उसे चन्द्रगुप्त की चन्द्रलेखा नाम की हथिनी पर बिठाकर बहुत से मनुष्य साथ करके बड़ी शीघ्रता से नंद-मंदिर में उसका प्रवेश कराया। जब वैरोधक मंदिर में घुसने लगा तब आपका भेजा दारुवर्म बढ़ई उसको चन्द्रगुप्त समझकर उसके ऊपर गिराने को कल का बना अपना तोरण लेकर सावधान हो बैठा। इसके पीछे चन्द्रगुप्त के अनुयायी राजा सब बाहर खड़े रह गये और जिस वर्बर को आपने चन्द्रगुप्त के मारने के हेतु भेजा था वह भी अपनी सोने की छड़ी की गुप्ती, जिसमें एक छोटी कृपाण थी, लेकर वहाँ खड़ा होगया।

राक्षस—दोनों ने बेठिकाने काम किया। हाँ फिर ?

विराधगुप्त—तब उस हथिनी को मारकर बढ़ाया और उसके दौड़ चलने से कल के तोरण का लक्ष, जो चन्द्रगुप्त के

धोंग वैरोधक पर किया गया था, चूक गया और वहाँ वर्बर जो चन्द्रगुप्त का आसरा देखता था वह बेचारा उसी कल के तोरण से मारा गया। जब दारुवर्म ने देखा कि लक्ष तो चूक गये, अब मारे जायँहींगे तब उसने उस कल की लोहे की कील से उस ऊँचे तोरण के स्थान ही पर से चन्द्रगुप्त के धोखे तपस्वी वैरोधक को हथिनी ही पर मार डाला।

राक्षस—हाय ! दोनों बातें कैसे दुख की हुई कि चन्द्रगुप्त तो काल से बच गया और दोनों बेचारे वर्बर और वैरोधक मारे गये। (आप ही आप) दैव ने इन दोनों को नहीं मारा हम लोगों को मारा। (प्रकाश) और वह दारुवर्म बढ़ई क्या हुआ ?

विराधगुप्त—उसको वैरोधक के साथके मनुष्योंने मार डाला।

राक्षस—हाय ! बड़ा दुःख हुआ ! हाय ! प्यारे दारुवर्म का हम लोगों से वियोग होगया। अच्छा ! उस वैद्य अभयदत्त ने क्या किया ?

विराधगुप्त—महाराज ! सब कुछ किया।

राक्षस—(हर्ष से) क्या चन्द्रगुप्त मारा गया ?

विराधगुप्त—दैव ने न मरने दिया।

राक्षस—(शोक से) तब क्या फूल कर कहते हो कि सब छ किया।

विराधगुप्त—उसने औषध में विष मिलाकर चन्द्रगुप्त को या पर चाणक्य ने उसको देख लिया और सोने के बरतन में रकर उसका रंग पलटा जानकर चन्द्रगुप्त से कह दिया कि । औषध में विष मिला है, इसको न पीना।

राक्षस—अरे वह ब्राह्मण बड़ा ही दुष्ट है। हाँ, तो वह क्या हुआ ?

विराधगुप्त—उस वैद्य को वही औषध पिलाकर मार डाला।

राक्षस—(शोक से) हाय हाय ! बड़ा गुणी मारा गया ! भला शयनघर के प्रबन्ध करनेवाले प्रमोदक ने क्या किया ?

विराधगुप्त—उसने सब चौका लगाया।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों ?

विराधगुप्त—उस मूर्ख को जो आपके यहाँ से व्यय को धन मिला सो उसने अपना बड़ा ठाट-बाट फैलाया। यह देखते ही चाणक्य चौकन्ना होगया और उससे अनेक प्रश्न किये। जब उसने उन प्रश्नों के उत्तर अंडबंड दिये तब उस पर पूरा संदेह करके दुष्ट चाणक्य ने उसको बुरी चाल से मार डाला।

राक्षस—हा ! क्या दैव ने यहाँ भी उलटा हमीं लोगों को मारा ! भला चन्द्रगुप्त को सोते समय मारने के हेतु जो राजभवन में बीभत्सकादिक वीर सुरंग में छिपा रक्खे थे उनका क्या हुआ ?

विराधगुप्त—महाराज ! कुछ न पूछिये।

राक्षस—(घबड़ाकर) क्यों-क्यों ! क्या चाणक्य ने जान लिया ?

विराधगुप्त—नहीं तो क्या ?

राक्षस—कैसे ?

विराधगुप्त—महाराज ! चन्द्रगुप्त के सोने जाने के पहिले ही वह दुष्ट चाणक्य उस घर में गया और उसको चारों ओर से देखा तो भीत की एक दरार से चिउँटियाँ चावल के कने लाती हैं। यह देखकर उस दुष्ट ने निश्चय कर लिया कि इस घर के भीतर मनुष्य छिपे हैं। बस, यह निश्चय कर उसने उस घर में आग लगवा दिया। धुएँ से घबड़ाकर निकल तो सके ही नहीं, इससे वे बीभत्सकादिक वहीं भीतर ही जलकर राख होगये।

राक्षस—(सोच से) मित्र ! देख चन्द्रगुप्त का भाग्य कि सब के सब मर गये। (चिंता सहित) अहा ! सखा ! देख इस दुष्ट

चन्द्रगुप्त का भाग्य !

कन्या जो विष की गई, ताहि हतन के काज।
तासों मारयो पर्वतक, जाको आधो राज॥
सबै नसे कलबल सहित, जे पठये वध हेत।
उलटी मेरी नीति सब, मौर्यहि को फल देत॥४४॥

विराधगुप्त—महाराज! तब भी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिये-

मारम्भ ही नहिं विघ्न के भय अधम जन उद्यम सजैं।
पुनि करहिं तौ कोउ विघ्न सों डरि मध्य ही मध्यम तजैं॥
धरि लात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम ते टरैं।
जे पुरुष उत्तम अंत में ते सिद्ध सब कारज करैं॥४५॥

और भी—

का सेसहि नहिं भार ? पै धरती देत न डारि।
कहा दिवसमनि नहिं थकत ? पै नहिं रुकत विचारि॥
सज्जन ताको हित करत, जेहि किय अंगीकार।
यहै नेम सुकृतीन को, निज जिय करहु विचार॥४६॥

राक्षस—मित्र! यह क्या तू नहीं जानता कि मैं प्रारब्ध के भरोसे नहीं हूँ? हाँ फिर।

विराधगुप्त—तब से दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा में चौकन्ना रहता है और इधर-उधर के अनेक उपाय सोचा करता है और पहिचान पहिचान के नंद के मंत्रियों को पकड़ता है।

राक्षस—(घबराकर) हाँ! कहो तो, मित्र! उसने किसे किसे पकड़ा है?

विराधगुप्त—सबके पहिले तो जीवसिद्धि क्षपणक को निरादर करके नगर से निकाल दिया।

राक्षस—(आप ही आप) भला इसने तक तो कुछ चिंता नहीं क्योंकि वह जोगी है, उसका घर बिना जी न घबड़ायगा। (प्रकाश)

मित्र ! उस पर अपराध क्या ठहराया ?

विराधगुप्त—कि इसी दुष्ट ने राक्षस की भेजी विषकन्या से पर्वतेश्वर को मार डाला।

राक्षस—(आप ही आप) वाहरे कौटिल्य वाह ! क्यों न हो !

निज कलंक हम पै धरयो, हत्यो अर्ध बँटवार।
नीतिबीज तुव एक ही फल उपजवत हजार ॥४७॥

(प्रकाश) हां फिर ?

विराधगुप्त—फिर चन्द्रगुप्त के नाश को इसने दारुवर्मादिक नियत किये थे यह दोष लगाकर शकटदास को सूली देदी।

राक्षस—(दुःख से) हा मित्र ! शकटदास ! तुम्हारी बड़ी अयोग्य मृत्यु हुई। अथवा स्वामी के हेतु तुम्हारे प्राण गये इससे कुछ शोच नहीं है। शोच हमी लोगों का है कि स्वामी के मरने पर भी जीना चाहते हैं।

विराधगुप्त—मंत्री ! ऐसा न सोचिये, आप स्वामी का काम कीजिये।

राक्षस—मित्र !

केवल है यह शोक, जीवलोभ अबलौं बचे।
स्वामी गयो परलोक पै कृतघ्न इतही रहे ॥४८॥

विराधगुप्त—महाराज ! ऐसा नहीं ('केवल है यह' ऊपर का छन्द फिर से पढ़ता है)।*

राक्षस—मित्र ! कहो, और भी सैकड़ों मित्रों का नाश सुनने को ये पापी कान उपस्थित हैं।

विराधगुप्त—यह सब सुनकर चंदनदास ने बड़े कष्ट से आपके कुटुम्ब को छिपाया।

---

* अर्थात् जो लोग जीवलोभ से बचे हैं वे कृतघ्न हैं, आप तो स्वामी के कार्य-साधन को जीते हैं, आप क्यों कृतघ्न हैं।

राक्षस—मित्र ! उस दुष्ट चाणक्य के तो चंदनदास ने विरुद्ध ही किया।

विराधगुप्त—तो मित्र का विगाड़ करना तो अनुचित ही था।

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तब चाणक्य ने आपके कुटुम्ब को चंदनदास से बहुत माँगा पर उसने नहीं दिया, इस पर उस दुष्ट ब्राह्मण ने—

राक्षस—(घबड़ाकर) क्या चंदनदास को मार डाला ?

विराधगुप्त—नहीं, मारा तो नहीं, पर स्त्री-पुत्र-धन-समेत बाँधकर बंदीघर में भेज दिया।

राक्षस—तो क्या ऐसा सुखी होकर कहते हो कि बन्धन में भेज दिया ? अरे ! यह कहो कि मंत्री राक्षस को कुटुम्ब सहित बाँध रक्खा है।

[प्रियंवदक आता है]

प्रियंवदक—जय जय महाराज ! बाहर शकटदास खड़े हैं।

राक्षस—(आश्चर्य से) सच ही ?

प्रियंवदक—महाराज ! आपके सेवक कभी मिथ्या बोलते हैं ?

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! यह क्या ?

विराधगुप्त—महाराज ! होनहार जो बचाया चाहे तो कौन मार सकता है ?

राक्षस—प्रियंवदक ! अरे जो सच ही कहता है तो उनको झटपट लाता क्यों नहीं ?

प्रियंवदक—जो आज्ञा (जाता है)।

[सिद्धार्थक के संग शकटदास आता है]

शकटदास—(देखकर आप ही आप)

वह सूली गड़ी जो बड़ी दृढ़ कै,
सोइ चंद्र को राज थिर्यो धन तें।

लपटी वह फाँस की डोर सोई
मनु श्री लपटी वृषलै मन तें ॥
बजी डौंडी निरादर की नृप नंद के,
सोऊ लख्यो इन आँखन तें ॥
नहिं जानि परै इतनौहूँ भये
केहि हेतु न प्रान कढ़े तन तें ॥४९॥

(राक्षस को देखकर) यह मंत्री राक्षस बैठे हैं। अहा!

नद गये हू नहिं तजत प्रभुसेवा को स्वाद।
भूमि बैठि प्रगटत मनहुँ स्वामिभक्त-मरजाद ॥५०॥

(पास जाकर) मंत्री की जय हो।

राक्षस—(देखकर आनन्दसे) मित्र शकटदास! आओ मुझसे मिल लो, क्योंकि तुम दुष्ट चाणक्य के हाथ से बच के आये हो।

शकटदास—(मिलता है)।

राक्षस—(मिलकर) यहाँ बैठो।

शकटदास—जो आज्ञा (बैठता है)।

राक्षस—मित्र शकटदास! कहो तो यह आनन्द की बात कैसे हुई?

शकटदास—(सिद्धार्थक को दिखाकर) इस प्यारे सिद्धार्थक ने सूली देने वाले लोगों को हटाकर मुझको बचाया।

राक्षस—(आनन्द से) वाह सिद्धार्थक! तुमने काम तो अमूल्य किया है, पर भला! तब भी यह जो कुछ है सो लो (अपने अंग से आभरण उतार कर देता है)।

सिद्धार्थक—(लेकर आप ही आप) चाणक्य के कहने से मैं सब करूँगा। (पैर पर गिर के प्रकाश) महाराज! यहाँ मैं पहिले पहल आया हूँ इससे मुझे यहाँ कोई नहीं जानता कि मैं उसके पास इन भूषणों को छोड़ जाऊँ, इससे आप इसी अँगूठी

से इस पर मोहर करके इसको अपने ही पास रक्खें, मुझे ज
काम होगा ले जाऊँगा।

राक्षस—क्या हुआ ? अच्छा शकटदास ! जो यह कहत
है वह करो।

शकटदास—जो आज्ञा। मोहर पर राक्षस का नाम देखकर
(धीरे से) मित्र ! यह तो तुम्हारे नाम की मोहर है।

राक्षस—(देखकर बड़े सोच से आप ही आप) हाय हाय
इसको तो जब मैं नगर से निकला था तब ब्राह्मणी ने मेरे
स्मरणार्थ ले लिया था। यह इसके हाथ कैसे लगी ? (प्रकाश)
सिद्धार्थक तुमने यह कैसे पाई ?

सिद्धार्थक—महाराज ! कुसुमपुर में जो चन्दनदास जौहरी
है उनके द्वार पर पड़ी पाई।

राक्षस—तो ठीक है।

सिद्धार्थक—महाराज ! ठीक क्या ?

राक्षस—यही कि ऐसे धनिकों के घर बिना यह वस्तु और
कहाँ मिले ?

शकटदास—मित्र ! यह मंत्रीजी के नाम की मोहर है,
इससे तुम इसको मंत्री को दे दो तो इसके बदले तुम्हें बहुत
पुरस्कार मिलेगा।

सिद्धार्थक—महाराज ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि आप इसे लें।

[मोहर देता है]

राक्षस—मित्र शकटदास, इसी मुद्रासे सब काम किया करो।

शकटदास—जो आज्ञा।

सिद्धार्थक—महाराज ! मैं कुछ विनती करूँ ?

[illegible]स—हाँ हाँ अवश्य करो।

[illegible]—यह तो आप जानते ही हैं कि उस दुष्ट चाणक्य

की बुराई करके फिर मैं पटने में घुस नहीं सकता, इससे कुछ दिन आप ही के चरणों की सेवा किया चाहता हूँ।

राक्षस—बहुत अच्छी बात है, हम लोग तो ऐसा चाहते ही थे। अच्छा है, यहीं रहो।

सिद्धार्थक—(हाथ जोड़कर) बड़ी कृपा हुई।

राक्षस—मित्र शकटदास ! ले जाओ इसको उतारो और सब भोजनादिक का ठीक करो।

शकटदास—जो आज्ञा।

[सिद्धार्थक को लेकर जाता है]

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! अब तुम कुसुमपुर का वृत्तांत जो छूट गया था सो कहो। वहाँ के निवासियों को मेरी बातें अच्छी लगती हैं कि नहीं ?

विराधगुप्त—बहुत अच्छी लगती हैं, वरन् वे सब तो आप ही के अनुयायी हैं।

राक्षस—ऐसा क्यों ?

विराधगुप्त—इसका कारण यह है कि मलयकेतु के निकलने के पीछे चाणक्य को चन्द्रगुप्त ने कुछ चिढ़ा दिया और चाणक्य ने भी उसकी बात न सहकर चन्द्रगुप्त की आज्ञा-भंग करके उसको दुःखी कर रक्खा है। यह मैं भली-भाँति जानता हूँ।

राक्षस—(हर्ष से) मित्र विराधगुप्त ! इसी सँपेरे के भेस से फिर कुसुमपुर जाओ और वहाँ मेरा मित्र स्तनकलस-नामक कवि है उससे कह दो कि चाणक्य के आज्ञाभंगादिकों के कवित्त घना बना कर चन्द्रगुप्त को बढ़ावा देता रहे और जो कुछ काम हो जाय वह करभक से कहला भेजे।

विराधगुप्त—जो आज्ञा। (जाता है)

[प्रियंवदक आता है]

प्रियंवदक—जय हो महाराज ! शकटदास कहते हैं कि ये तीन आभरण बिकते हैं, इन्हें आप देखें।

राक्षस—(देखकर) अहा ! ये तो बड़े मूल्य के गहने हैं। अच्छा शकटदास से कह दो कि दाम चुका कर ले लें।

प्रियंवदक—जो आज्ञा (जाता है)।

राक्षस—(आपही आप) तो अब हम भी चलकर करभक को कुसुमपुर भेजें (उठता है) अहा ! क्या उस मृतक चाणक्य से और चन्द्रगुप्त से बिगाड़ हो जायगा ? क्यों नहीं ?· क्योंकि सब कामों को सिद्ध ही देखता हूँ—

> चन्द्रगुप्त निज तेज बल करत सबन को राज।
> तेहि समझत चाणक्य यह मेरो दियो समाज॥
> अपनो अपनो करि चुके काज रह्यो कछु जौन।
> अब जो आपुस में लड़ैं तौ बड़ अचरज कौन?॥११॥

[जाता है]

इति द्वितीयांक

तृतीय अंक

स्थान—राजभवन की अटारी

[कंचुकी आता है]

कंचुकी—

> है रूप आदिक विषय जो रोके हिये बहु लोभ सों।
> सो सिढ़ इंद्रीगन सहित है शिथिल अतिही छोभ सों॥
> मानत कह्यो कोउ नाहिं, सब अंग अंग ढीले ह्वै गये,
> तौहू न तृष्णे ! क्यों तजति तू मोहिं बूढ़ेहु भये ! ॥१२॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे! अरे! सुगांगप्रासाद के लोगो! सुनो! महाराज चन्द्रगुप्त ने तुम लोगों को यह आज्ञा दी है कि 'कौमुदी महोत्सव के होने से परम शोभित कुसुमपुर को मैं देखना चाहता हूँ'। इससे उस अटारी को बिछौने इत्यादि से सजा रक्खो। देर क्यों करते हो? (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि 'क्या महाराज चन्द्रगुप्त नहीं जानते कि कौमुदी महोत्सव अब की न होगा।?' दुर दईमारो! क्या मरने को लगे हो? शीघ्रता करो।

बहु फूल की माल लपेटि कै खंभन धूप-सुगंध सों ताहि धुपाइये।
तापैं चहूँ दिसि चंद छपा से सुसोभित चौंर घने लटकाइये॥
भार सों चारु सिंहासन के मुरछा में धरा परी धेनु सी पाइये।
छींटिकै तापैं गुलाब मिल्यौ जल चंदन ता कहँ जाइ जगाइये॥५३॥

(आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो कि 'हम लोग अपने काम में लग रहे हैं।?' अच्छा अच्छा! झटपट सब सिद्ध करो, देखो! वह महाराज चन्द्रगुप्त आ पहुँचे।

बहु दिन श्रम करि नंद नृप वह्यो राज-धुर जौन।
बालेपन ही में लियौ चंद सीस निज तौन॥
डिगत न नेकहु बिषम पथ, दृढ़प्रतिज्ञ, दृढ़गात।
गिरन चहत, सँभरत बहुरि, नेकु न जिय घबरात॥५४॥

(नेपथ्य में) इधर महाराज! इधर।

[राजा और प्रतिहारी आते हैं]

राजा—(आप ही आप) राज उसी का नाम है जिस में अपनी आज्ञा चले। दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है, क्योंकि—

जो दूजे को हित करै तौ खोवै निज काज।
जौ खोयो निज काज तौ कौन बात को राज?॥५५॥

दूजे ही को हित करै तौ यह परम मूढ़।
कठपुतरी मो स्वाद कछु पावै कबहुँ न कूढ़ ॥५६॥

और राज्य पाकर भी इस दुष्ट राजलक्ष्मी को सँभालना बहुत कठिन है, क्योंकि—

कूर सदा भाखति पियहि, चंचल सहज सुभाव।
नर-गुन औगुन नहिं लखति, सज्जन-खल सम भाव॥
डरति सूर सौं, मीरु कहँ गनति न कछु रतिहीन।
बारनारि अरु लच्छमी कहौ कौन बस कीन ! ॥५७॥

यद्यपि गुरु ने कहा कि "तू झूठी कलह करके कुछ समय तक स्वतंत्र होकर अपना प्रबंध आप करले" पर यह तो बड़ा पाप-सा है। अथवा गुरुजी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतंत्र हैं।

जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस है रहै॥
तासों सदा गुरु-वाक्य-बस हम नित्य पर-आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से संतजन ही जगत में स्वाधीन हैं ॥५८॥

(प्रकाश) अजी वैहीनर ! सुगांगप्रासाद का मार्ग दिखाओ।

कंचुकी—इधर आइये, महाराज ! इधर।

राजा—(आगे बढ़ता है)

कंचुकी—महाराज सुगांगप्रासाद की यही सीढ़ी है।

राजा—(ऊपर चढ़कर दिशाओं को देखकर) अहा! शरद ऋतु की शोभा से सब दिशायें कैसी सुन्दर हो रही हैं!

सरद बिमल ऋतु सोहई निरमल नील अकास।
निसानाथ पूरन उदित सोलह कला प्रकास ॥५९॥
चारु चमेली बन रहीं महमह महँकि सुबास।
नदी-तीर फूले लखौ सेत सेत बहु कास ॥६०॥

कमल कुमोदिनि सरन में फूले सोभा देत।
भौंर वृंद जामें लखौ गूँजि-गूँजि रस लेत ॥६१॥
बसन चाँदनी, चंद मुख, उडुगन मोतीमाल।
कासफूल मधु हास, यह सरद किधौं नव बाल ॥६२॥

(चारों ओर देखकर) कंचुकी! यह क्या? नगर में चन्द्रिकोत्सव कहीं नहीं मालूम पड़ता; क्या तूने सब लोगों से ताकीद करके नहीं कहा था कि उत्सव हो?

कंचुकी—महाराज! सबसे ताकीद कर दी थी।

राजा—तो फिर क्यों नहीं हुआ? क्या लोगों ने हमारी आज्ञा नहीं मानी?

कंचुकी—(कान पर हाथ रखकर) राम राम! भला नगर क्या इस पृथिवी में ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा न माने?

राजा—तो फिर चन्द्रिकोत्सव क्यों नहीं हुआ? देख न—

गज रथ बाजि सजे नहीं, बँधी न बंदनवार।
तने बितान न कहुँ नगर, रंजित कहुँ न द्वार ॥६३॥
नर-नारी डोलत न कहुँ फूलमाल गर डार।
नृत्य-वाद-धुनि गीत नहिं सुनियत श्रवन मँझार ॥६४॥

कंचुकी—महाराज! ठीक है, ऐसा ही है।

राजा—क्यों ऐसा ही है?

कंचुकी—महाराज योंही है।

राजा—स्पष्ट क्यों नहीं कहता?

कंचुकी—महाराज चन्द्रिकोत्सव बंद किया गया है।

राजा—(क्रोध से) किसने बंद किया है?

कंचुकी—(हाथ जोड़कर) महाराज! यह मैं नहीं कह सकता?

राजा—कहीं आर्य चाणक्य ने तो नहीं बंद किया?

कंचुकी—महाराज! और किसको अपने प्राणों से शत्रुता करनी थी?

राजा—(अत्यंत क्रोध से) अच्छा अब हम बैठेंगे।

कंचुकी—महाराज ! यह सिंहासन है, विराजिये।

राजा—(बैठकर क्रोध से) अच्छा कंचुकी ! आर्य चाणक्य से कह कि "महाराज आपको देखा चाहते हैं।"

कंचुकी—जो आज्ञा (बाहर जाता है)।

[एक परदा उठता है और चाणक्य बैठा दिखाई पड़ता है]

चाणक्य—(आप ही आप) दुष्ट राक्षस हमारी बराबरी करता है। यह जानता है कि—

जिमि हम नृप-अपमान सों महा क्रोध उर धारि।
करी प्रतिज्ञा नंद-नृप-नासन की निरधारि ॥६५॥
सो नृप नंदहि पुत्र सह नासि करी हम पूर्ण।
चन्द्रगुप्त राजा कियो करि राक्षस-मद चूर्ण ॥६६॥
तिमि सोऊ मोहि नीति-बल छलन चहत हति चंद।
पै मो आछत यह जतन वृथा तासु अति मंद ॥६७॥

(ऊपर देखकर क्रोध से) अरे राक्षस ! छोड़ छोड़, यह व्यर्थ का श्रम; देख—

जिमि नृप नंदहि मारि कै वृषलहि दीनो राज।
आइ नगर चाणक्य किय दुष्ट सर्प सों काज ॥६८॥
तिमि सोऊ नृप चन्द्र को चाहत करन बिगार।
निज लघु मति लँघ्यौ चहत मो बल-बुद्धि-पहार ॥६९॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे राक्षस ! मेरा पीछा छोड़। क्योंकि—

राज काज मंत्री चतुर करत बिना अभिमान।
जैसो तुव नृप नंद हो चंद न तौन समान ॥७०॥
तुम कछु नहिं चाणक्य, जो साजौ कठिनहु काज।
तासों हम सो बैर करि नहिं सरिहै तुव राज ॥७१॥

अथवा इसमें तो मुझे कुछ सोचना ही न चाहिये। क्योंकि—

मम भागुरायण आदि भृत्यन मलय राख्यो घेरिकै।
तिमि गये सिद्धारथक ऐहैं तेउ काज निबेरिकै॥
अब लखहु करि छल-कलह नृप सों भेद बुद्धि उपाइकै।
पर्वत जनन सों हम बिगारत राक्षसहिं उलटाइकै॥७२॥

कंचुकी—(प्रवेश कर) हा! सेवा बड़ी कठिन होती है।

नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहेब गनन सों डरते रहौ।
पुनि बिटहु जे अति पास के तिनको कह्यौ करते रहौ॥
मुख लखत बीतत दिवस निसि, भय रहत संकित प्रान है।
निज-उदर-पूरन-हेतु सेवा स्वान-वृत्ति समान है॥७३॥

[चारों ओर घूमकर, देखकर]

अहा! यही आर्य चाणक्य का घर है। तो चलूँ (कुछ आगे बढ़कर और देखकर)

अहा हा! यह राजाधिराज श्रीमंत्रीजी के घर की संपत्ति है—

कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुँ सिल परी सोभा दे रही।
कहुँ तिल, कहूँ जव-रासि लागी बटुन जो भिच्छा लही॥
कहुँ कुस परे, कहुँ समिध सूखत भार सों ताके नयो।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयो॥७४॥

महाराज चन्द्रगुप्त को बड़े भाग्य से ऐसा मंत्री मिला है—

बिन गुनहू के नृपन को धन हित गुनजन धाइ।
झूठो सुख करि बहुरी बहु गुन कहहिं बनाइ॥
पै जिनको तृष्णा नहीं ते न लबार समान।
तिनको तृन सम धनिक जन पावत कबहुँ न मान॥७५॥

(देखकर डर से) अरे! आर्य चाणक्य यहाँ बैठे हैं, जिन्होंने—

लोक धरमि चंदहिं कियो राजा, नंद गिराइ।
रोस मात्र ही के बढ़त जिमि ससि-तेज नसाइ॥७६॥

(प्रगट दंडवत करके) जय हो ! आर्य की जय हो !!

चाणक्य—(देखकर) कौन है ? वैहीनर ! क्यों आया है?

कंचुकी—आर्य ! अनेक राजगणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल रहते हैं उन महाराज चन्द्रगुप्त ने आपके चरणों में दण्डवत् करके निवेदन किया है कि 'यदि आपके किसी कार्य में विघ्न न पड़े तो मैं आपके दर्शन किया चाहता हूँ ।'

चाणक्य—वैहीनर ! क्या वृषल * मुझे देखा चाहता है ? क्या मैंने कौमुदीमहोत्सव का प्रतिषेध कर दिया है, यह वृषल नहीं जानता ?

कंचुकी—आर्य क्यों नहीं ?

चाणक्य—(क्रोध से) हैं ! किसने कहा बोल तो ।

कंचुकी—(भय से) महाराज प्रसन्न हों ! जब सुगांगप्रासाद की अटारी पर गये थे तब देखकर महाराज ने आप ही जान लिया कि कौमुदीमहोत्सव अब की नहीं हुआ ।

चाणक्य—अरे ठहर, मैंने जाना, यह तुम्हीं लोगों ने वृषल का जी मेरी ओर से फेर कर उसे चिढ़ा दिया है । और क्या?

कंचुकी—(भय से नीचा मुँह करके चुप रह जाता है ।)

चाणक्य—अरे ! राज के कारबारियों का चाणक्य के ऊपर बड़ा ही विद्वेष पक्षपात है । अच्छा वृषल कहाँ है, बता ।

कंचुकी—(डरता हुआ) आर्य सुगांगप्रासाद की अटारी पर से महाराज ने मुझे आपके चरणों में भेजा है ।

चाणक्य—(उठकर) कंचुकी ! सुगांगप्रासाद का मार्ग बता ।

कंचुकी—इधर महाराज । (दोनों घूमते हैं)

---

* वृषल साधारणतया शूद्र को कहते हैं । सम्राट् चन्द्रगुप्त मुरा नामक दासी के पेट से पैदा हुआ था अतः उसका नाम भी वृषल पड़ गया था ।

कंचुकी—महाराज ! यह सुगांगप्रासाद की सीढ़ियाँ हैं। धीरे धीरे चढ़ें।

[दोनों सुगांगप्रासाद पर चढ़ते हैं और चाणक्य के घर का परदा गिर कर छिप जाता है।]

चाणक्य—(चढ़कर और चन्द्रगुप्त को देखकर प्रसन्नता से) अहा ! वृषल सिंहासन पर बैठा है—

हीन नंद सों रहित नृप चंद्र करत जेहि भोग।
परम होत संतोष लखि आसन राजा जोग ॥१७॥

(पास जाकर) जय हो वृषल की !

चन्द्रगुप्त—(उठकर और पैरों पर गिर कर) आर्य चन्द्रगुप्त दंडवत् करता है।

चाणक्य—(हाथ पकड़कर उठा कर) उठो बेटा ! उठो।

जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधनी-कन सीतल रहैं।
जहँ लौं विविध-मनिखंड मंडित समुद दच्छिन दिसि दहैं॥
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोहि सीस झुकावहीं।
तिनके मुकुट मनि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं॥

चन्द्रगुप्त—आर्य ! आपकी कृपा से ऐसा ही हो रहा है। बैठिये।

(दोनों यथास्थान बैठते हैं)

चाणक्य—वृषल ! कहो, मुझे क्यों बुलाया है।

चन्द्रगुप्त—आर्य के दर्शन से कृतार्थ होने को।

चाणक्य—(हँसकर) भया, बहुत शिष्टाचार हुआ। अब बताओ, क्यों बुलाया है, क्योंकि राजा लोग किसी कर्मचारी को बेकाम नहीं बुलाते।

चन्द्रगुप्त—आर्य ! आपने कौमुदी-महोत्सव के न होने में क्या फल सोचा है ?

चाणक्य—(हँसकर) तो यही उलाहना देने को बुलाया है, न?

चन्द्रगुप्त—उलाहना देने को कभी नहीं।

चाणक्य—तो क्यों?

चन्द्रगुप्त—पूछने को।

चाणक्य—जब पूछना ही है तब तुमको इससे क्या? शिष्य को सर्वदा गुरु की रुचि पर चलना चाहिये।

चन्द्रगुप्त—इसमें कोई संदेह नहीं, पर आपकी रुचि बिना प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती, इससे पूछा।

चाणक्य—ठीक है, तुमने मेरा आशय जान लिया। बिना प्रयोजन के चाणक्य की रुचि किसी ओर कभी फिरती ही नहीं।

चन्द्रगुप्त—इससे तो सुने बिना मेरा जी अकुलाता है।

चाणक्य—सुनो, अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार के राज्य लिखे हैं—एक राजा के भरोसे, दूसरा मंत्री के भरोसे, तीसरा राजा और मंत्री दोनों के भरोसे। सो तुम्हारा राज्य तो केवल सचिव के भरोसे है, फिर इन बातों के पूछने से क्या? व्यर्थ मुँह दुखाना है। यह सब हम लोगों के भरोसे है, हम लोग जानें।

[राजा क्रोध से मुँह फेर लेता है, नेपथ्य में दोनों वैतालिक गाते हैं]

प्र० वै०—

अहो यह सरद संभु है आई।
कास-फूल फूले चहुँ दिसि तें सोइ मनु भस्म लगाई॥
चंद उदित सोइ सीस अभूखन सोभा लगति सुहाई।
तासों रंजित घन-पटली सोइ मनु गज-खाल बनाई॥
फूले कुसुम मुंडमाला सोइ सोहत अति धवलाई।
राजहंस सोभा सोइ मानो हास-विभव दरसाई॥
अहो यह सरद संभु बनि आई॥२१॥

और भी

हरो हरि-नैन तुम्हारी बाधा।
मरदागम लगि सेस-अंक तें जगे जगत-सुभ-साधा॥
कछु कछु खुले, मुंदे कछु सोभित आलस भरि अनियारे।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे, जदपि ढरारे॥
सेस-सीस-मनि-चमक-चकौंधन तनिकहुँ नहिं सकुचाहीं।
नींद-भरे श्रम जगे चुभत जे नित कमला-उर माहीं॥
हरो हरि-नैन तुम्हारी बाधा॥८०॥

दूसरा वै०—(कड़खे की चाल में)
अहो, जिन कों विधि सब जीव सों बढ़ि दीनों जग काज।
अरे, दान-सलिल-धारे सदा जे जीतहिं गजराज॥
अहो सुन्यो न जिनको मान ते नृपवर जग सिरताज।
अरे, सहहिं न आज्ञा-भंग जिमि दंतपात मृगराज॥
अरे, केवल बहु गहना पहिरि राजा होय न कोय।
अहो, जाकी नहिं आज्ञा टरै सो नृप तुम सम होय॥८१॥

चाणक्य—(सुनकर आप ही आप) भला पहिले ने तो देवतारूप शरद के वर्णन में आशीर्वाद दिया, पर इस दूसरे ने क्या कहा? (कुछ सोचकर) अरे जाना, यह सब राक्षस की करतूत है। अरे दुष्ट राक्षस! क्या तू नहीं जानता कि अभी चाणक्य सो नहीं गया है?

चन्द्रगुप्त—अजी वैहीनर! इन दोनों गाने वालों को लाख-लाख मोहर दिलवा दो।

वैहीनर—जो आज्ञा महाराज। (उठकर जाना चाहता है)

चाणक्य—(क्रोध से) वैहीनर ठहर, अभी मत जा। वृषल! कुपात्र को इतना क्यों देते हो?

चन्द्रगुप्त—आप मुझे सब बातों में यों ही रोक दिया करते

तब यह मेरा राज क्या है, उलटा बंधन है।

चाणक्य—वृपल ! जो राजा आप असमर्थ होते हैं उनमें इतना ही तो दोष है । इससे जो ऐसी इच्छा हो तो तुम अपने राज का प्रबंध आप करलो ।

चन्द्रगुप्त—बहुत अच्छा, आज से मैंने सब काम सँभाला।

चाणक्य—इससे अच्छी और क्या बात है ? तो मैं भी अपने अधिकार पर सावधान हूँ ।

चन्द्रगुप्त—जब यही है तब पहिले मैं पूछता हूँ कि कौमुदी-महोत्सव का निषेध क्यों किया गया ।

चाणक्य—वृपल ! मैं भी यह पूछता हूँ कि उसके होने का प्रयोजन क्या था ।

चन्द्रगुप्त—पहिले तो मेरी आज्ञा का पालन ।

चाणक्य—पहिला प्रयोजन यह है कि मैंने आपकी आज्ञा के अपालन के हेतु ही कौमुदीमहोत्सव का प्रतिषेध किया। क्योंकि—

आई चारहु सिंधु के छोरहु के भूपाल ।
जो सासन सिर पै धरैं जिमि फूलन की माल॥
तेहि हम जौ कछु टारहीं सोउ तुव हित-उपदेस ।
जासों तुमरो विनय गुन जग में बढ़ै, नरेस ! ॥८२॥

चन्द्रगुप्त—और जो दूसरा प्रयोजन है, वह भी सुनूँ ।

चाणक्य—वह भी कहता हूँ ।

चन्द्रगुप्त—कहिये ।

चाणक्य—शोणोत्तरे ! अचलदत्त कायस्थ से कहो कि तुम्हारे पास जो भद्रभट इत्यादि का लेखपत्र है वह माँगा है ।

प्रति०—जो आज्ञा (बाहर से पत्र लाकर देती है)

चाणक्य—वृपल ! सुनो ।

चन्द्रगुप्त—मैं इधर ही कान लगाये हूँ ।

चाणक्य—(पढ़ता है) स्वस्ति परम प्रसिद्ध नाम महाराज श्री चन्द्रगुप्त देव के साथी जो अब उनको छोड़कर कुमार मलयकेतु के आश्रित हुए हैं उनका यह प्रतिज्ञापत्र है। पहिला गजाध्यक्ष भद्रभट, अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त, महाप्रतिहार चन्द्रभानु का भानजा हिंगुरात, महाराज के नातेदार महाराज बलगुप्त, महाराज के लड़कपन का सेवक राजसेन, सेनापति सिंहवलदत्त का छोटा भाई भागुरायण, मालव के राजा का पुत्र रोहिताक्ष और क्षत्रियों में सब से प्रधान विजयवर्मा—(आप ही आप) ये हम सब लोग महाराज का काम सावधानी से साधते हैं (प्रकाश) यही इस पत्र में लिखा है। सुना?

चन्द्रगुप्त—आर्य! मैं इन सबों के उदास होने का कारण सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृपल! सुनो! ये जो गजाध्यक्ष और अश्वाध्यक्ष थे वे रात दिन मद्य, स्त्री और जूए में डूब कर अपने काम से निरे बेसुध रहते थे, इससे मैंने उनसे अधिकार लेकर केवल निर्वाह के योग्य उनकी जीविका करदी थी। इससे उदास होकर वे कुमार मलयकेतु के पास चले गये और वहाँ अपना अपना कार्य सुनाकर फिर उन्हीं पदों पर नियुक्त हुए हैं। हिंगुरात और बलगुप्त ऐसे लालची हैं कि कितना भी दिया परन्तु मारे लालच के कुमार मलयकेतु के पास इस लोभ से जा रहे कि वहाँ बहुत मिलेगा। राजसेन, जो आपका लड़कपन का सेवक था, उसने आपकी थोड़ी ही कृपा से हाथी, घोड़ा, घर और धन सब पाया, पर इस भय से भागकर मलयकेतु के पास चला गया कि यह सब छिन न जाय। और यह जो, सिंहवलदत्त सेनापति का छोटा भाई भागुरायण है उस से पर्वतक से बड़ी प्रीति थी सो उसने कुमार मलयकेतु से यह कहा कि "जैसे विश्वासघात करके चाणक्य ने तुम्हारे पिता को मार

डाला वैसे ही तुम्हें भी मार डालेगा इससे यहाँ से भाग चलो"। ऐसे ही बहकाकर उसने कुमार मलयकेतु को भगा दिया और जब आपके बैरी चंदनदासादिक को दंड हुआ तब मारे डर के मलयकेतु के पास जा रहा। उसने भी यह समझकर कि इसने मेरे प्राण बचाये हैं और मेरे पिता का परिचित भी है उसको कृतज्ञता से अपना अंतरंग मंत्री बनाया है। ये जो रोहिताक्ष और विजयवर्मा थे, ये ऐसे अभिमानी थे कि जब आप उनके नातेदारों का आदर करते थे तब ये कुढ़ते थे, इसी से वे भी मलयकेतु के पास चले गये। बस यही उन लोगों की उदासी का कारण है।

चन्द्रगुप्त—आर्य जब इन सबके भागने का उद्यम जानते ही थे तो क्यों न रोक रक्खा?

चाणक्य—ऐसा कर नहीं सके।

चन्द्रगुप्त—क्या असमर्थ होगये,वा कुछ उसमें भी प्रयोजन था?

चाणक्य—असमर्थ कैसे हो सकते हैं? उसमें भी कुछ प्रयोजन ही था।

चन्द्रगुप्त—आर्य! वह प्रयोजन मैं सुना चाहता हूँ।

चाणक्य—सुनो और भूल मत जाओ।

चन्द्रगुप्त—आर्य! मैं सुनता हुई हूँ भूलूँगा भी नहीं, कहिये।

चाणक्य—अब जो लोग उदास हो गये हैं या बिगड़ गये हैं उनके दो ही उपाय हैं—या तो फिर से उन पर अनुग्रह करें या उन को दंड दें। भद्रभट और पुरुषदत्त से जो अधिकार ले लिया गया है तो अब उन पर अनुग्रह यही है कि फिर उनको उनका अधिकार दिया जाय। पर यह हो नहीं सकता, क्योंकि उनको मृगया, मद्यपानादि का जो व्यसन है उससे वे इस योग्य नहीं हैं कि हाथी-घोड़ों को सँभालें और सब सेना की जड़ हाथी-घोड़े ही हैं। वैसे ही हिंगुरात और बलगुप्त को कौन प्रसन्न कर सकता है? क्योंकि

उनको सब राज्य पाने से भी संतोष न होगा। राजसेन और भागुरायण तो धन और प्राण के डर से भागे हैं, वे तो प्रसन्न होई नहीं सकते। और रोहिताक्ष तथा विजयवर्मा का तो कुछ पूछना ही नहीं है, क्योंकि वे तो और नातेदारों के मान मे जलते हैं। उनका कितना भी मान करो उन्हें थोड़ा ही दिखलाता है। तो इसका क्या उपाय है? यह तो अनुग्रह का वर्णन हुआ। अब दण्ड का सुनिये। यदि हम प्रधान पद पाकर इन सबों को जो बहुत दिनों से नन्दकुल के सर्वदा शुभाकांक्षी और साथी रहे दंड देकर दुखी करें तो नंदकुल के साथियों का हम पर से विश्वास उठ जाय। इस से हमने इन्हें छोड़ ही देना योग्य समझा। सो इन्हीं सब हमारे भृत्यों को पक्षपाती बनाकर राक्षस के उपदेश से म्लेच्छराज की बड़ी सहायता पाकर, और अपने पिता के वध से क्रोधित होकर पर्वतक का पुत्र कुमार मलयकेतु हम लोगों से लड़ने को उद्यत हो रहा है। सो यह लड़ाई के उद्योग का समय है, उत्सव का समय नहीं। इससे गढ़ के संस्कार के समय कौमुदीमहोत्सव क्या होगा? यही सोचकर उसका प्रतिषेध कर दिया।

चन्द्रगुप्त—आर्य! मुझे अभी इसमें बहुत कुछ पूछना है।

चाणक्य—भलीभाँति पूछो, क्योंकि मुझे भी. बहुत कुछ कहना है।

चन्द्रगुप्त—यह पूछता हूँ—

चाणक्य—हाँ! मैं भी कहता हूँ।

चन्द्रगुप्त—कि हम लोगों के सब अनर्थों की जड़ मलयकेतु है। उसे आपने भागते समय क्यों नहीं पकड़ा?

चाणक्य—वृषल! मलयकेतु के भागने के समय भी दो ही उपाय थे—या तो मेल करते या दंड देते। जो मेल करते तो आधा राज देना पड़ता और जो दंड देते तो फिर यह हम लोगों की

कृतघ्नता सब पर प्रसिद्ध हो जाती कि इन्हीं लोगों ने पर्वतक को भी मरवा डाला। और आधा राज देकर जो अब मेल करलें तो उस बेचारे पर्वतक के मारने का केवल पाप ही हाथ लगे इससे मलयकेतु को भागते समय छोड़ दिया।

चन्द्रगुप्त—और भला राक्षस इसी नगर में रहता था उसका भी आपने कुछ न किया। इसका क्या उत्तर है?

चाणक्य—सुनो, राक्षस अपने स्वामी की स्थिरभक्ति से और यहाँ बहुत दिन रहने से यहाँ के लोगों का और नंद के सब साथियों का विश्वासपात्र हो रहा है और उसका स्वभाव सब लोग जान गये हैं। उस में बुद्धि और पौरुष भी है, वैसे ही उसके सहायक भी हैं और उसे कोषबल भी है। इससे जो वह यहाँ रहे तो भीतर के सब लोगों को फोड़ कर उपद्रव करे और जो यहाँ से दूर रहे तो वह ऊपरी जोड़तोड़ लगावे पर उनके मिटाने में इतनी कठिनाई न हो, इससे उसके जाने के समय उपेक्षा कर दी गई।

चन्द्रगुप्त—तो जब वह यहाँ था तभी उसको वश में क्यों नहीं कर लिया?

चाणक्य—वश क्या कर लें? अनेक उपायों से तो वह छाती में गड़े काँटे की भाँति निकाल कर दूर किया गया है। उसे दूर करने में और कुछ प्रयोजन ही था।

चन्द्रगुप्त—तो बल से क्यों नहीं पकड़ रक्खा?

चाणक्य—वह राक्षस ही है, उस पर जो बल किया जाता तो या वह आप मारा जाता या तुम्हारी सेना का नाश कर देता। दोनों ही प्रकार हानि थी, देखो—

> *हम न्यौं इक महत नर, जो वह पावे नास।*
> *जो वह नासै सैन तुव, तौहू जिय अति त्रास॥*

तासों छल बल करि बहुत अपने बस करि वाहि ।
जिमि गज पकरैं सुघर तिमि बाँधैंगे हम ताहि ॥ ८३ ॥

चन्द्रगुप्त—मैं आपकी बात तो नहीं काट सकता, पर इससे तो मंत्री राक्षस ही बढ़ चढ़ के जान पड़ता है ।

चाणक्य—(क्रोध से) 'आप नहीं' इतना क्यों छोड़ दिया ? ऐसा कभी नहीं है, उसने क्या किया है, कहो तो ?

चन्द्रगुप्त—जो आप न जानते हों तो सुनिए कि वह महात्मा—

जदपि आपु जीती पुरी तदपि धारि बुधज्ञान ।
जब लौं जिय चाह्यौ रह्यौ धारि सीस पैं लात ॥ ८४ ॥
छाँड़ी फेरन के समय निज बल जय प्रकटाय ।
मेरे बल के लोग को दीनों तुरत हराय ॥ ८५ ॥
मोहे परिजन रीति सों जाके सब बिनु भाग ।
पै मोरें निज लोकहू आनहिं नहिं बिस्राम ॥ ८६ ॥

चाणक्य—(हँस कर) वृषल ! राक्षस ने यह सब किया ?

चन्द्रगुप्त—हाँ ! हाँ ! अमात्य राक्षस ने यह सब किया ।

चाणक्य—तो हमने जाना कि जिस तरह नंद का नाश करके तुम राजा हुए, वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा ।

चन्द्रगुप्त—आर्य ! यह उपालम्भ आप को नहीं शोभा देता करने वाला सब दूसरा है ।

चाणक्य—रे कृतघ्न !

अतिहि क्रोध करि खोलिकै सिखा प्रतिज्ञा कीन ।
सो सब देखत भुव करी नव-नृप-नंद-विहीन ॥
घिरी स्वान अरु गीध सों भय-उपजावनिहारि ।
जारि नंदहू नहिं भरे अजौं मसान-दवारि ॥ ८७ ॥

चन्द्रगुप्त—यह सब किसी दूसरे ने किया ।

चाणक्य—किसने ?

चन्द्रगुप्त—नंदकुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य—दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चन्द्रगुप्त—और विद्वान् लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।

चाणक्य—(क्रोध नाट्य करके) अरे वृषल! क्या नौकर की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है?

पुनी सिखाहू बाँधिबे चंचल भे पुनि हाथ।

(क्रोध से पृथ्वी पर पैर पटक कर)

घोर प्रतिज्ञा पुनि चरन करन चहत कर साथ।
नंद नसे सों निडर ह्वै तू फूल्यो गरबाय।
सो अभिमान मिटाइहौं तुरतहि तोहि गिराय ॥८८॥

चन्द्रगुप्त—(घबड़ा कर आप ही आप) अरे! क्या आर्य को सचमुच क्रोध आगया!

फर फर फरकत अधर-पुट, भये नयन जुग लाल।
चढ़ी जाति भौंहैं कुटिल, स्वास तजत जिमि ब्याल॥
मनहुँ अचानक रुद्र-दृग खुल्यो त्रितिय दिखरात।

(आवेग सहित)

धरनी धार्यो तिनु धँसे हा हा किमि पद-घात ॥८९॥

चाणक्य—(नकली क्रोध रोक कर) तो वृषल! इस कोरी बकवाद में क्या लाभ है? जो राक्षस चतुर है तो यह शस्त्र उसी को दे। (शस्त्र फेंककर और उठकर ऊपर देखते हुए आप ही आप) ह ह ह! राक्षस! यही तुमने चाणक्य को जीतने का उपाय किया।

तुम जान्यो चाणक्य सों नृप लरहिं अरुझाय।
सहजहिं लैहैं राज हम निज बल बुद्धि उपाय॥
सो हम तुमहीं कहँ छलन कियो क्रोध परकास।
तुमरोई करिहै उलटि यह तुव भेद बिनास ॥९०॥

[क्रोध प्रकट करता हुआ चला जाता है]

चन्द्रगुप्त—आर्य वैहीनर! "चाणक्य का अनादर करके आज से चन्द्रगुप्त सब काम-काज आप ही सँभालेंगे," यह लोगों से कह दो।

कंचुकी—(आप ही आप) अरे! आज महाराज ने चाणक्य के पहिले 'आर्य' शब्द नहीं कहा! क्यों? क्या सचमुच अधिकार छीन लिया? वा इसमें महाराज का क्या दोष है?

सचिव-दोष सों होत है नृपहु बुरे ततकाल।
हाथीवान-प्रमाद सों गज कहलावत व्याल ॥११॥

चन्द्रगुप्त—क्योंजी? क्या सोच रहे हो?

कंचुकी—यही कि महाराज को 'महाराज' शब्द अब यथार्थ शोभा देता है।

चन्द्रगुप्त—(आप ही आप) इन्हीं लोगों के धोखा खाने से आर्य का काम होगा। (प्रकट) शोणोत्तरे! इस सूखी कलह से हमारा सिर दुखने लगा, इससे शयनगृह का मार्ग दिखलाओ।

प्रतिहारी—इधर आवें महाराज, इधर आवें।

चन्द्रगुप्त—(उठकर चलता हुआ आप ही आप)

गुरु-आयसु छल सों कलह करिहू जीय डराय।
किमि नर गुरुजन सो लरहिं यहै सोच जिय, हाय! ॥१२॥

[सब जाते हैं—जवनिका गिरती है]

इति तृतीयांक

चतुर्थ अंक

स्थान—मंत्री राक्षस के घर के बा

[करभक घबड़ाया हुआ आता

करभक—अहा हा हा ! अहा हा हा !

अतिमय दुरगम ठाम मैं, सत जोजन सं

कौन जात है धाइ बिनु प्रभु-निदेश भर

अब राक्षस मंत्री के घर चलूँ (थका सा घूम

ौकीदार है ? स्वामी राक्षस मंत्री से जाकर कहो

ाम पूरा करके पटने से दौड़ा आता है ।'

(दौवारिक आता है)

दौवारिक—अजी ! चिल्लाओ मत । स्वामी राक्ष

राजकाज सोचते सोचते सिर में ऐसी विथा होगई है

सोने के बिछौने से नहीं उठे, इससे एक घड़ी भर

अवसर मिलता है तो मैं निवेदन किये देता हूँ ।

(परदा उठता है और सोने के बिछौने पर चिंता में

राक्षस और शकटदास दिखाई पड़ते हैं)

राक्षस—(आप ही आप)

कारज उलटो होत है कुटिल नीति के जोर ।
का कीजै, सोचत यही जागि होय है भोर ॥१४॥

और भी

आरंभ पहिले सोचि रचना वेश की

और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य—

दौवारिक—(प्रवेश कर) जय जय।

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है।

दौवारिक—अमात्य-

राक्षस—(बाँयें नेत्र के फड़कने का अपशकुन देखकर आप ही आप) 'ब्राह्मण चाणक्य जय जय' और पकड़ा जा सकता है अमात्य' यह उलटी बात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ। तो भी क्या हुआ ? उद्यम नहीं छोड़ेंगे (प्रकाश) भद्र ! क्या कहता है ?

दौवारिक—अमात्य ! पटने से करभक आया है सो आपसे मिला चाहता है।

राक्षस—अभी लाओ।

दौवारिक—जो आज्ञा (बाहर करभक के पास जाकर, उसको संग लेजाकर) भद्र ! मंत्रीजी वह बैठे हैं, उधर जाओ। (जाता है)

करभक—(मंत्री को देखकर) जय हो जय हो !

राक्षस—अजी करभक ! आओ, अच्छे हो ? बैठो।

राक्षस—(आप ही आप) अरे ! मैंने इसको किस काम का भेद लेने को भेजा था, यह कार्य के आधिक्य के कारण भूला जाता है (चिंता करता है)।

[बेंत हाथ में लेकर एक पुरुष आता]

पुरुष—हटे रहना—अजी दूर रहो—दूर रहो, क्या नहीं देखते ?

> नृप द्विजादि, जिन नरन को मंगल-रूप-प्रकास।
> ते न नीच मुखहू लखहिं; कैसो पास निवास ! ॥*९६॥

---

* प्राचीनकाल में आचार्य, राजा आदि नीचों को नहीं देखते थे।

(आकाश की ओर देखकर) अजी क्या कहा कि क्यों हटाते हो ? अमात्य राक्षस के सिर में पीड़ा सुनकर कुमार मलयकेतु उनको देखने को इधर ही आते हैं। (जाता है)

[भागुरायण और कंचुकी के साथ मलयकेतु आता है]

मलयकेतु—(लंबी साँस लेकर आपही आप) हा ! देखो, पिता के मरे आज दस महीने हुए और व्यर्थ वीरता का अभिमान कर के अब तक हम लोगों ने कुछ भी नहीं किया, वरन् तर्पण करना भी छोड़ दिया। या क्या हुआ मैंने तो पहिले यही प्रतिज्ञा ही की है कि—

कर वलय उर ताड़त गिरे आँचरहु की सुधि नहिं परी।
मिलि करहिं आरतनाद हाहा अलक खुलि रज सों भरी॥
जो शोक सों भइ मातुगन की दशा सो उलटाइहैं।
करि रिपु-जुवतिगन की सोइ गति पितहि तृति कराइहैं॥१७॥

और भी

रन मरि पितु ढिग जात हम, वीरन की गति पाय।
कै माता हगजल धरत रिपु-जुवती मुख लाय॥१८॥

(प्रकाश) अजी जाजले ! सब राजा लोगों से कहो कि मैं बिना कहे सुने राक्षस मंत्री के पास अकेले जाकर उनको प्रसन्न करूँगा इससे वे सब लोग उधर ही ठहरें।

कंचुकी—जो आज्ञा। (घूमते घूमते नेपथ्य की ओर देखकर) अजी राजा लोग ! सुनो। कुमार की आज्ञा है कि मेरे साथ कोई न चले (देखकर आनन्द से) महाराजकुमार ! आप देखिये। आप की आज्ञा सुनते ही सब राजा रुक गये—

अति चपल जे रथ चलत, ते सुनि चित्र से तुरतहि भये।
जे खुरन खोदत नभ-पथहि, ते बाजिगन झुकि रुकि गये॥
जे रहे धावत ठिठकि ते, गज मूक घंटा सह सधे।
मरजाद तुव नहिं तजहिं नृपगण, जलधि से मानहुँ बँधे॥१९॥

मलयकेतु—अजी जाजले ! तुम भी सब लोगों को लेकर जाओ, एक केवल भागुरायण मेरे संग रहे ।

कंचुकी—जो आज्ञा (सब को लेकर जाता है) ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! जब मैं यहाँ आता था तो भद्रभट प्रभृति लोगों ने मुझसे निवेदन किया कि "हम राक्षस मन्त्री के द्वारा कुमार के पास नहीं रहा चाहते, कुमार के सेनापति शिखरसेन के द्वारा रहेंगे । दुष्ट मन्त्री ही के डर से तो चन्द्रगुप्त को छोड़ कर यहाँ सब बात का सुबीता जानकर कुमार का आश्रय लिया है ।" सो उन लोगों की बात का मैंने आशय नहीं समझा ।*

भागुरायण—कुमार ! यह तो ठीक ही है, क्योंकि अपने कल्याण के हेतु सब लोग स्वामी का आश्रय हित और प्रिय के द्वारा करते हैं ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! तो फिर राक्षस मन्त्री तो हम लोगों का परमप्रिय और बड़ा हित है ।

भागुरायण—ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का बैर चाणक्य से है, कुछ चन्द्रगुप्त से नहीं है, इससे जो चाणक्य की बातों से रूठ कर चन्द्रगुप्त उससे मन्त्री का काम ले ले और नंदकुल की भक्ति से "यह नंद ही के वंश का है" यह सोचकर राक्षस चन्द्रगुप्त से मिल जाय और चन्द्रगुप्त भी अपने बड़े लोगों का पुराना मन्त्री समझ कर उसको मिला ले, तो ऐसा न हो कि कुमार हम लोगों पर भी विश्वास न करें ।

मलयकेतु—ठीक है, मित्र भागुरायण ! राक्षस मन्त्री का घर कहाँ है ?

---

* चाणक्य के मन्त्र ही से लोगों ने मलयकेतु से ऐसा कहा था ।

मागुरायण—इधर कुमार इधर (दोनों घूमते हैं) कुमार यही राक्षस मंत्री का घर है—चलिये।

मलयकेतु—चलें (दोनों राक्षस के निकट जाते हैं)।

राक्षस—अहा! स्मरण आया (प्रकाश) कहो जी! तुमने कुसुमपुर में स्तनकलस वैतालिक को देखा था?

करभक—क्यों नहीं?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! जब तक कुसुमपुर की बातें हों तब तक हम लोग इधर ही ठहर कर सुनें कि क्या बात होती है, क्योंकि—

भेद न कछु जामें खुले, याही भय सब ठौर।
नृप सों मंत्री जन कहहिं, बात और की और॥१००॥

भागुरायण—जो आज्ञा (दोनों ठहर जाते हैं)।

राक्षस—क्यों जी! काम सिद्ध हुआ?

करभक—अमात्य की कृपा से सब काम सिद्ध ही है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! यह कौनसा काम है?

भागुरायण—कुमार! मंत्री के जी की बातें बड़ी गुप्त हैं। कौन जाने? इससे देखिये अभी सुन लेते हैं कि क्या कहते हैं।

राक्षस—अजी, भलीभाँति कहो।

करभक—सुनिये—जिस समय आप ने आज्ञा दी कि करभक, तुम जाकर वैतालिक स्तनकलस से कहदो कि जब जब चाणक्य चन्द्रगुप्त की आज्ञा-भंग करे तब तब तुम ऐसे श्लोक पढ़ो जिससे उसका जी और भी फिर जाय।

राक्षस—हाँ, तब?

करभक—तब मैंने पटने में जाकर स्तनकलस से आपका संदेसा कह दिया।

राक्षस—तब?

करभक—इसके पीछे नंदकुल के विनाश से दुखी लोगों का जी बहलाने के हेतु चन्द्रगुप्त ने कुसुमपुर में कौमुदी-महोत्सव होने की डौंड़ी पिटा दी और उसको बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्रों के मिलाप की भाँति पुर के निवासियों ने बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक स्नेह से मान लिया।

राक्षस—(आँसू भर कर) हा देव नंद !

यदपि उदित कुमुदन सहित, पाइ चाँदनी चंद।
तदपि न तुम बिन लसत है, नृपससि ! जगदानंद ॥१०१॥

हाँ फिर क्या हुआ ?

करभक—तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगों के नेत्र के परमानंददायक उस उत्सव को रोक दिया और उसी समय स्तनकलस ने ऐसे ऐसे श्लोक पढ़े कि राजा का भी मन फिर जाय।

राक्षस—वाह मित्र स्तनकलस, वाह, क्यों न हो ! अच्छे समय में भेदबीज बोया है, फल अवश्य होगा। क्योंकि—

नृप रूठे अचरज कहा, सकल लोग जा संग।
छोटे हू माने बुरो, परे रंग में भंग ॥१०२॥

मलयकेतु—ठीक है (नृप रूठे यह दोहा फिर पढ़ता है)

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ ?

करभक—तब आज्ञाभंग से रुष्ट हो कर चन्द्रगुप्त ने आप की बड़ी प्रशंसा की और दुष्ट चाणक्य से अधिकार ले लिया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! देखो प्रशंसा कर के राक्षस में चन्द्रगुप्त ने अपनी भक्ति दिखाई।

भागुरायण—गुण प्रशंसा से बढ़कर चाणक्य का अधिकार लेने से।

राक्षस—क्यों जी, एक कौमुदी-महोत्सव के निषेध ही से चाणक्य चन्द्रगुप्त में बिगाड़ हुआ कि कोई और कारण भी ?

मलयकेतु—क्यों मित्र भागुरायण ! अ
क्या फल निकालेंगे ?

भागुरायण—यह फल निकाला है कि च
मान है, यह व्यर्थ चन्द्रगुप्त को क्रोधित न करावे
भी उसकी बातें जानना है, वह भी बिना बात
अपमान न करेगा, इससे उन लोगों में बहुत झगड़
होगा तो पक्का होगा ।

करभक—आर्य्य ! और भी कई कारण हैं ।

राक्षस—कौन ?

करभक—कि जब पहिले यहाँ से राक्षस
मलयकेतु भागे तब उसने क्यों नहीं पकड़ा ?

राक्षस—(हर्ष से) मित्र शकटदास ! अब
हाथ में आ जायगा ।

शकटदास—अब चन्दनदास छूटेगा, और आप
मिलेंगे, वैसे ही जीवसिद्धि इत्यादि लोग क्लेश से छूटेंगे

भागुरायण—(आप ही आप) हाँ, अवश्य जीवसि
क्लेश छूटा ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! अब मेरे हाथ चन्द्रगुप्त
इस में इन का क्या अभिप्राय है ?

भागुरायण—और क्या होगा ? यही होगा कि यह चाण
से छूटे चन्द्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं ।*

राक्षस—अजी, अब अधिकार छिन जाने पर वह चाण
कहाँ है ?

---

* राक्षस ने तो "चन्द्रगुप्त हाथ में आवेगा
या कि चन्द्रगुप्त

करभक—अभी तो पटने ही में है।

राक्षस—(घबड़ा कर) हैं ! अभी वहीं है ? तपोवन नहीं चला गया ? या फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की ?

करभक—अब तपोवन जायगा—ऐसा सुनते हैं।

राक्षस—(घबड़ा कर) शकटदास, यह बात तो काम की नहीं।

देव नंद को नहिं सह्यो जिन भोजन अपमान।
सो निज कृत नृप चंद की बात न सहिहै जान ॥१०३॥

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! चाणक्य के तपोवन जाने या फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्यसिद्धि निकाली है ?

भागुरायण—कुमार ! यह तो कोई कठिन बात नहीं है, इस का आशय तो स्पष्ट ही है कि चन्द्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा उतनी ही कार्यसिद्धि होगी।

शकटदास—अमात्य ! आप व्यर्थ सोच न करें, क्योंकि देखें

जदपि भाँति अधिकार लहि, अभिमानी नृप चंद।
नहिं सहिहै अपमान अब, गज होइ स्वछंद ॥
तिमि चाणक्यहु पाइ दुख, एक प्रतिज्ञा पूरि।
अब दूजी करिहै न कछु, उद्यम निज मद चूरि ॥१०४॥

राक्षस—ऐसा ही होगा। मित्र शकटदास ! जाकर करभक को डेरा इत्यादि दो।

शकटदास—जो आज्ञा।

(करभक को लेकर जाता है)

राक्षस—इस समय कुमार से मिलने की इच्छा है।

मलयकेतु—(आगे बढ़ कर) मैं आप ही आप से मिलने को आया हूँ।

राक्षस—(संभ्रम से उठकर) अरे कुमार आप ही आगये

आइए, इस आसन पर बैठिये।

मलयकेतु—मैं बैठता हूँ आप विराजिये।

[दोनों बैठते हैं]

मलयकेतु—इस समय सिर की पीड़ा कैसी है ?

राक्षस—जब तक कुमार के बदले महाराज कहकर आपको नहीं पुकार सकते तब तक यह पीड़ा कैसे छूटेगी *।

मलयकेतु—आपने जो प्रतिज्ञा की है तो सब कुछ होईगा। परन्तु सब सेना सामंत के होते भी अब आप किस बात का आसरा देखते हैं ?

राक्षस—किसी बात का नहीं, अब चढ़ाई कीजिये।

मलयकेतु—अमात्य ! क्या इस समय शत्रु किसी संकट में है ?

राक्षस—बड़े।

मलयकेतु—किस संकट में ?

राक्षस—मन्त्री-संकट में।

मलयकेतु—मन्त्री-संकट तो कोई संकट नहीं है।

राक्षस—और किसी राजा को न हो तो न हो, पर चन्द्रगुप्त को तो अवश्य है।

मलयकेतु—आर्य ! मेरी जान में चन्द्रगुप्त को और भी नहीं है।

राक्षस—आपने कैसे जाना कि चन्द्रगुप्त को मन्त्री-संकट संकट नहीं है ?

मलयकेतु—क्योंकि चन्द्रगुप्त के लोग तो चाणक्य के कारण उससे उदास रहते हैं, जब चाणक्य ही न रहेगा तब उस के सब कामों को लोग और भी संतोष से करेंगे।

---

* अर्थात् चन्द्रगुप्त को जीत कर जब आप को महाराज बना लेंगे तब स्वस्थ होंगे।

राक्षस—कुमार, ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ दो प्रकार के लोग हैं—एक चन्द्रगुप्त के साथी, दूसरे नंदकुल के मित्र। उनमें जो चन्द्रगुप्त के साथी हैं उन को चाणक्य ही से दुःख था कुछ नंद कुल के मित्रों को नहीं, क्योंकि वे लोग तो यही सोचते हैं कि इसी कृतघ्न चन्द्रगुप्त ने राज्य के लोभ से अपने पितृकुल का नाश किया है, पर क्या करें उन का कोई आश्रय नहीं है इस से चन्द्रगुप्त के आसरे पड़े हैं। जिस दिन आपको शत्रु के नाश में और अपने पक्ष के उद्धार में समर्थ देखेंगे उसी दिन चन्द्रगुप्त को छोड़ कर आप से मिल जायँगे, इसके उदाहरण हमी लोग हैं।

मलयकेतु—आर्य्य ! चन्द्रगुप्त के हारने का एक यही कारण है कि कोई और भी है ?

राक्षस—और बहुत क्या होंगे एक यही बड़ा भारी है।

मलयकेतु—क्यों आर्य्य ! यही क्यों प्रधान है? क्या चन्द्रगुप्त और मन्त्रियों से या आप अपना काम करने में असमर्थ है ?

राक्षस—निरा असमर्थ है।

मलयकेतु—क्यों ?

राक्षस—यों कि जो आप राज्य सम्भालते हैं या जिन का राज राजा और मन्त्री दोनों करते हैं वह राजा ऐसे हों तो हों; परन्तु चन्द्रगुप्त तो कदापि ऐसा नहीं है। चन्द्रगुप्त एक तो दुरात्मा है दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है, इससे वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं तो फिर वह सब काम कैसे कर सकता है ? क्योंकि—

लक्ष्मी करत निवास अति, प्रबल सचिव नृप पाय।
पै निज बाल सुभाव सों, इकहिं तजत अकुलाय ॥१०५॥

और भी—

जो नृप बालक सो रहत, सदा सचिव के गोद।
बिन कछु जग देखे सुने, सो नहिं पावत मोद ॥१०६॥

मलयकेतु—(आप ही आप) तो हम अच्छे हैं, कि सचिव के अधिकार में नहीं (प्रकाश) अमात्य! यद्यपि यह ठीक है तथापि जहाँ शत्रु के अनेक छिद्र हैं तहाँ एक इसी सिद्धि से सब काम न निकलेगा।

राक्षस—कुमार के सब काम इसी से सिद्ध होंगे। देखिये,

चाणक्य को अधिकार छूट्यौ चन्द्र हैं राजा नये।
पुर नंद में अनुरक्त तुम निज बल सहित चढ़ते भये॥

जब आप हम—(कह कर लज्जा से कुछ ठहर जाता है)

तुव बस सकल उद्यम सहित रन मति करी।
यह कौन सी नृप! बात जो नहिं सिद्धि है है ता घरी ॥१०७॥

मलयकेतु—अमात्य! जो अब आप ऐसा लड़ाई का समय देखते हैं तो देर कर के क्यों बैठे हैं? देखिये—

इन को ऊँचो सीस है, वाको उच्च करार।
स्याम दोऊ यह जल स्रवत, ये गंडन मधु धार॥
उते भँवर को शब्द इत, भँवर करत गुंजार।
निज सम तेहि लखि नासिहैं, दंतन तोरि कछार॥
सीस सोन सिंदूर सों, ते मतङ्ग बल दार।
सोन सहज ही सोखि हैं, निश्चय जानहु आर ॥*१०८॥

और भी

गरजि गरजि गंभीर रव, बरसि बरसि मधुधार।
सत्रु नगर गज घेरिहैं, घन जिमि विविध प्रकार ॥१०९॥

(शस्त्र उठाकर भागुरायण के पास जाता है)

---

* पटना घेरने में सोन उतर कर जाना था।

राक्षस—कोई है ?

[प्रियम्वदक आता है]

प्रियम्वदक—आज्ञा !

राक्षस—देख तो द्वार पर कौन भिक्षुक खड़ा है ?

प्रियम्वदक—जो आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आता है) अमात्य ! एक क्षपणक भिक्षुक ।

राक्षस—(असगुण जानकर आप ही आप) पहिले ही क्षपणक का दर्शन हुआ ।

प्रियम्वदक—जीवसिद्धि है ।

राक्षस—अच्छा, बोलाकर ले आ ।

प्रियम्वदक—जो आज्ञा । (जाता है)

[क्षपणक आता है]

पहिले कटु परिणाम मधु, औषध सम उपदेस ।
मोह व्याधि के वैद्य गुरु, तिनको सुनहु निदेस ॥११०॥

(पास जाकर) उपासक ! धर्म लाभ हो !

राक्षस—ज्योतिषीजी, अब हम लोग प्रस्थान किस दिन करें ?

क्षपणक—(कुछ सोचकर) उपासक ! मुहूर्त्त तो देखा। आज भद्रा तो पहर पहिले ही छूट गई है * और तिथि भी संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी है और आप लोगों को उत्तर से दक्षिण जाना है और नक्षत्र भी दक्षिण ही है ।

---

* भद्रा छूट गई अर्थात् कल्याण को तो आपने जब चन्द्रगुप्त का पक्ष छोड़ा तभी छोड़ा और संपूर्ण चन्द्रा पौर्णमासी है अर्थात् चन्द्रगुप्त का प्रताप पूर्ण व्याप्त है। उत्तर नाम, प्राचीन पक्ष छोड़कर दक्षिण अर्थात् यम की दिशा को जाना है। नक्षत्र दक्षिण है अर्थात् आपका वाम (विरुद्ध पक्ष) नक्षत्र और आपका दक्षिण पक्ष (मलयकेतु) नक्षत्र (बिना छत्र के) है।

> अथए सूरहि, चंद के, उदये, गमन प्रशस्त।
> पाइ लगन बुध केतु तो, उदयो हू भो अस्त ॥१११॥*

राक्षस—अजी, पहिले तो तिथि ही नहीं शुद्ध है।

क्षपणक—उपासक !

> एक गुनी तिथि होत है, त्यों चौगुन नक्षत्र।
> लगन होत चौंसठ गुनो, यह भाखत सब पत्र ॥११२॥
> लगन होत है सुभ लगन, छोड़ि क्रूर ग्रह एक।
> जाहु चंद बल देखि के, पावहु लाभ अनेक ॥११३॥†

राक्षस—अजी तुम और ज्योतिषियों से जाकर झगड़ो।

क्षपणक—आप ही झगड़िये, मैं जाता हूँ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गये ?

---

* अथए इत्यादि, तुम जो सूर हो उसकी बुद्धि के अस्त के समय और चन्द्रगुप्त के उदय के समय जाना अच्छा है अर्थात् चाणक्य की ऐसे समय में जय होगी। लग्न अर्थात् कारण भाव में बुध चाणक्य पड़ा है इससे केतु अर्थात् मलयकेतु का उदय भी है तो भी अस्त ही होगा। अर्थात् इस युद्ध में चन्द्रगुप्त जीतेगा और मलयकेतु हारेगा। सूर अथए—इस पद से जीवसिद्धि ने अमंगल भी किया। आश्विन पूर्णिमा तिथि, भरणी नक्षत्र, गुरुवार, मेष के चन्द्रमा मीन लग्न में उसने यात्रा बतलाई। इसमें भरणी नक्षत्र गुरुवार, पूर्णिमा तिथि यह सब दक्षिण की यात्रा में निषिद्ध हैं। फिर सूर्य मृत है, चन्द्र जीवित है, यह भी बुरा है। लग्न में मीन का बुध पड़ने से नीच का होने से बुरा है। यात्रा में नक्षत्र दक्षिण होने ही से बुरा है।

† अर्थात् मलयकेतु का साथ छोड़ दो तो तुम्हारा भला हो। वास्तव में चाणक्य के मित्र होने से जीवसिद्धि ने साइत भी उलटी दी। ज्योतिष के अनुसार अत्यन्त क्रूर बेला, क्रूर ग्रहवेध में युद्ध आरम्भ होना चाहिये। उसके विरुद्ध सौम्य समय में युद्धयात्रा कही, उस का फल पराजय है।

क्षपणक—नहीं, तुम से जोतिषी नहीं रूसा है।

राक्षस—तो कौन रूसा है ?

क्षपणक—(आप ही आप) भगवान्, कि तुम अपना पक्ष छोड़ कर शत्रु का पक्ष ले बैठे हो (जाता है)।

राक्षस—प्रियम्वदक ! देख तो कौन समय है।

प्रियम्वदक—जो आज्ञा (बाहर से हो आता है) आर्य्य ! सूर्य्यास्त होता है।

राक्षस—(आसन से उठ कर और देख कर) आह ! भगवान् सूर्य्य अस्ताचल को चले—

जब सूरज उदयो प्रबल, तेज धारि आकाश।
तब उपवन तरुवर सबै, छायाजुत भे पास॥
दूर परे ते तरु सबै, अस्त भये रवि ताप।
जिमि धन बिन स्वामिहि तजै, भृत्य स्वारथी आप॥११४॥

(दोनों जाते हैं)

इति चतुर्थ अंक।

पंचम अंक

[हाथ में मोहर, गहिने की पेटी और पत्र लेकर सिद्धार्थक आता है]

सिद्धार्थक—अहाहा !

देशकाल के कलश से, सिंची बुद्धि जल जौन।
लता नीति चाणक्य की, बहु फल दैहै तौन॥११५॥

अमात्य राक्षस के मोहर का, आर्य्य चाणक्य का लिखा हुआ यह लेख और मोहर तथा यह आभूषन की पेटिका लेकर मैं पटने जाता हूँ (नेपथ्य की ओर देख कर) अरे ! यह क्या क्षपणक आता है ? हाय हाय ! यह तो बुरा असगुन हुआ। तो मैं सूरज को देख कर इसका दोष छुड़ा लूँ।

अथए सूरहि, चंद के, उदये, गमन प्रशस्त।
पाइ लगन बुध केतु तो, उदयो हू सो अस्त ॥१११॥*

राक्षस—अजी, पहिले तो तिथि ही नहीं शुद्ध है।

क्षपणक—उपासक !

एक गुनी तिथि होत है, त्यों चौगुन नखत्र।
लगन होत चौंसठ गुनो, यह भाखत सब पत्र ॥११२॥
लगन होत है शुभ लगन, छोड़ि क्रूर ग्रह एक।
जाहु चंद बल देखि के, पावहु लाभ अनेक ॥११३॥†

राक्षस—अजी तुम और ज्योतिषियों से जाकर झगड़ो।

क्षपणक—आप ही झगड़िये, मैं जाता हूँ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गये ?

---

* अथए इत्यादि, तुम जो सूर हो उसकी बुद्धि के अस्त के समय और चन्द्रगुप्त के उदय के समय जाना अच्छा है अर्थात् चाणक्य की ऐसे समय में जय होगी। लग्न अर्थात् कारण भाव में बुध चाणक्य पड़ा है इससे केतु अर्थात् मलयकेतु का उदय भी है तो भी अस्त ही होगा। अर्थात् इस युद्ध में चन्द्रगुप्त जीतेगा और मलयकेतु हारेगा। सूर अथए—इस पद से जीवसिद्धि ने अमंगल भी किया। आश्विन पूर्णिमा तिथि, भरणी नक्षत्र, गुरुवार, मेष के चन्द्रमा मीन लग्न में उसने यात्रा बतलाई। इसमें भरणी नक्षत्र गुरुवार, पूर्णिमा तिथि यह सब दक्षिण की यात्रा में निषिद्ध हैं। फिर सूर्य्य मृत है, चन्द्र जीवित है, यह बुरा है। लग्न में मीन का बुध पड़ने से नीच का होने से बुरा है में नक्षत्र दक्षिण होने ही से बुरा है।

† अर्थात् मलयकेतु का साथ छोड़ दो तो वास्तव में चाणक्य के मित्र होने से जीवसिद्धि ने दी। ज्योतिष के अनुसार अत्यन्त क्रूर वेला, आरम्भ होना चाहिये। उसके [illegible] जिस का फल पराजय है।

क्षपणक—चाहे राक्षस के मित्र हो चाहे पिशाच के, बिना मोहर के कभी जाने न पाओगे।

सिद्धार्थक—भदन्त! क्रोध मत करो, कहो कि काम सिद्ध हो।

क्षपणक—जाओ, काम सिद्ध होगा, हम भी पटने जाने के हेतु मलयकेतु से मोहर लेने जाते हैं।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रवेशक

[भागुरायण और सेवक आते हैं]

भागुरायण—(आप ही आप) चाणक्य की नीति भी बड़ी विचित्र है।

कहूँ विरल, कहूँ सघन, कहूँ विफल, कहूँ फलवान।
कहूँ कृस, कहूँ अति थूल, कछु भेद परत नहिं जान॥
कहूँ गुप्त अति ही रहत, कबहूँ प्रगट लखात।
कठिन नीति चाणक्य की, भेद न जान्यो जात॥११७॥

(प्रगट) भासुरक! मलयकेतु से मुझे क्षण-भर भी दूर रहने में दुःख होता है इससे यही बिछौना बिछा तो बैठें।

सेवक—जो आज्ञा। बिछौना बिछा है, विराजिये।

भागुरायण—(आसन पर बैठकर) भासुरक! बाहर कोई मुझसे मिलने आवे तो आने देना।

सेवक—जो आज्ञा। (जाता है)

भागुरायण—(आप ही आप करुणा से) राम राम! मलयकेतु तो मुझसे इतना प्रेम करता है, मैं उसका बिगाड़ किस तरह करूँगा? अथवा—

जस कुल तजि अपमान सहि धन हित परवस होय।
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै शकत करि सोय॥११८॥

[आगे आगे मलयकेतु और पीछे प्रतिहारी आती है]

मलयकेतु—(आप ही आप) क्या करें राक्षस का चित्त मेरी ओर से कैसा है यह सोचते हैं तो अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं, कुछ निर्णय नहीं होता।

नंदवंश को जानि कै, ताहि चन्द्र की चाह।
कै अपनायो जानि निज, मेरो करत निबाह॥
को हित अनहित तासु को, यह नहिं जान्यो जात।
तासों जिय सन्देह अति, भेद न कछू लखात ॥११९॥

(प्रकट) विजये ! भागुरायण कहाँ हैं देख तो ?

प्रतिहारी—महाराज ! भागुरायण वह बैठे हुए आप की सेना के जाने वाले लोगों को राहखर्च और परवाना बाँट रहे हैं।

मलयकेतु—विजये ! तुम दबे पाँव से उधर से आओ, मैं पीछे से जाकर मित्र भागुरायण की आँखें बंद करता हूँ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा।

[दोनों दबे पाँव से चलते हैं और भासुरक आता है]

भासुरक—(भागुरायण से) बाहर क्षपणक आया है, उस को परवाना चाहिये।

भागुरायण—अच्छा, यहाँ भेज दो।

भासुरक—जो आज्ञा (जाता है)।

[क्षपणक आता है]

क्षपणक—श्रावक को धर्म लाभ हो !

भागुरायण—(छल से उसकी ओर देख कर) यह तो राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है (प्रगट) भदन्त ! तुम नगर में राक्षस के किसी काम से जाते होगे।

क्षपणक—(कान पर हाथ रख कर) छी छी ! हम से राक्षस या पिशाच से क्या काम !

भागुरायण—आज तुम से और मित्र से कुछ प्रेम कलह हुआ है, पर यह तो बताओ कि राक्षस ने तुम्हारा कौन अपराध किया है ?

क्षपणक—राक्षस ने कुछ अपराध नहीं किया है अपराधी तो हम हैं ?

भागुरायण—ह ह ह ह ! भदन्त ! तुम्हारे इस कहने से तो मुझ को सुनने की और भी उत्कण्ठा होती है।

मलयकेतु—(आप ही आप) मुझ को भी।

भागुरायण—तो भदन्त ! कहते क्यों नहीं ?

क्षपणक—तुम सुन के क्या करोगे ?

भागुरायण—तो जाने दो, हमें कुछ आग्रह नहीं है, गुप्त हो तो मत कहो।

क्षपणक—नहीं उपासक ! गुप्त ऐसा नहीं है, पर वह बहुत बुरी बात है।

भागुरायण—तो जाओ, हम तुम को परवाना न देंगे।

क्षपणक—(आप ही आप की भाँति) जो यह इतना आग्रह करता है तो कह दें (प्रत्यक्ष) श्रावक ! निरुपाय हो कर कहना पड़ा। सुनो—मैं पहिले कुसुमपुर में रहता था, तब संयोग से मुझ से राक्षस से मित्रता हो गई, फिर उस दुष्ट राक्षस ने चुपचाप मेरे द्वारा विषकन्या का प्रयोग करा के बिचारे पर्व्वतेश्वर को मारडाला।

मलयकेतु—(आँखों में पानी भर के) हाय हाय ! राक्षस ने हमारे पिता को मारा, चाणक्य ने नहीं मारा। हा !

भागुरायण—हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

क्षपणक—फिर मुझे राक्षस का मित्र जान कर उस दुष्ट चाणक्य ने मुझ को नगर से निकाल दिया, तब मैं राक्षस के यहाँ आया, पर राक्षस ऐसा जालिया है कि अब मुझ को ऐसा काम करने को कहता है जिस से मेरा प्राण जाय।

भागुरायण—भदन्त ! हम तो यह समझते हैं कि पहिले आधा राज देने कहा था, वह न देने को चाणक्य ही ने यह दुष्ट कर्म किया, राक्षस ने नहीं किया।

क्षपणक—(कान पर हाथ रख कर) कभी नहीं, चाणक्य तो विषकन्या का नाम भी नहीं जानता, यह घोर कर्म उस दुर्बुद्धि राक्षस ही ने किया है।

भागुरायण—हाय हाय ! बड़े कष्ट की बात है। लो, मुहर तो तुमको देते हैं, पर कुमार को यह बात सुना दो।

मलयकेतु—(आगे बढ़ कर)

सुन्यौ मित्र, श्रुति-भेद-कर, शत्रु कियो जो हाल।
पिता-मरन को मोहि दुख, दुगुन भयो एहि काल ॥१२०॥

क्षपणक—(आप ही आप) मलयकेतु दुष्ट ने यह बात सुन ली तो मेरा काम होगया। (जाता है)

मलयकेतु—(दांत पीसकर ऊपर देखकर) अरे राक्षस !

जिन तोरै विश्वास करि, सौंप्यौ सब धन धाम।
ताहि मारि दुख दै सबन, साँचो किय निज नाम ॥१२१॥

भागुरायण—(आप ही आप) आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि "अमात्य राक्षस के प्राण की सर्वथा रक्षा करना" इससे अब बात फेरें। (प्रकाश) कुमार ! इतना आवेग मत कीजिये। आप आसन पर बैठिये तो मैं कुछ निवेदन करूँ।

मलयकेतु—मित्र क्या कहते हो ? कहो (बैठ जाता है)।

भागुरायण—कुमार ! बात यह है कि अर्थशास्त्र वालों की मित्रता और शत्रुता अर्थ ही के अनुसार होती है, साधारण लोगों की भाँति इच्छानुसार नहीं होती। उस समय सर्वार्थसिद्धि को राक्षस राजा बनाया चाहता था तब देव पर्व्वतेश्वर ही इस कार्य में कंटक थे तो उस कार्य्य की सिद्धि के हेतु यदि राक्षस ने ऐसा

किया तो कुछ दोष नहीं आप देखिये—

मित्र शत्रु है जात हैं, शत्रु करहिं अति नेह।
अर्थ-नीति-वस लोग सब, बदलहिं मानहुँ देह ॥१२२॥

इस से राक्षस को ऐसी अवस्था में दोष नहीं देना चाहिये। और जब तक नंदराज्य न मिले तब तक उस पर प्रकट स्नेह ही रखना नीति सिद्ध है, राज्य मिलने पर कुमार जो चाहेंगे करेंगे।

मलयकेतु—मित्र! ऐसा ही होगा। तुमने बहुत ठीक सोचा है। इस समय इसका वध करने से प्रजागण उदास हो जायँगे और ऐसा होने से जय में भी सन्देह होगा।

[एक मनुष्य आता है]

मनुष्य—कुमार की जय हो। कुमार के कटकद्वार के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि "मुद्रा लिये बिना एक पुरुष कुछ पत्र सहित बाहर जाता हुआ पकड़ा गया है, सो उस को एक बेर आप देख लें।"

भागुरायण—अच्छा, उसको ले आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

[बाहर जाता है और हाथ बँधे हुए सिद्धार्थक को लेकर आता है]

सिद्धार्थक—(आप ही आप)

गुन पै रिझवति, दोस सों दूर बचावति जौन।
स्वामि भक्ति जननी सरिस, प्रनमत नित हम तौन ॥१२३॥

पुरुष—(हाथ जोड़कर) कुमार यही मनुष्य है।

भागुरायण—(अच्छी तरह देखकर) यह क्या बाहर का मनुष्य है या यहीं किसी का नौकर है?

सिद्धार्थक—मैं अमात्य राक्षस का पासवर्ती सेवक हूँ।

भागुरायण—तो तुम क्यों मुद्रा लिये बिना कटक के बाहर जाते थे?

कि किसने लिखा है, और सँदेसा किससे कहेगा ?

सिद्धार्थक—(डरते हुए की भाँति) आप से ।

भागुरायण—क्यों रे ! हम से ?

सिद्धार्थक—आपने पकड़ लिया। हम कुछ नहीं जानते कि क्या बात है ।

भागुरायण—(क्रोध से) अब जानेगा। भद्र भासुरक ! इसको बाहर ले जाकर जब तक यह सब कुछ न बतलावे तब तक खूब मारो ।

पुरुष—जो आज्ञा। (सिद्धार्थक को बाहर लेकर जाता है और हाथ में एक पेटी लिये फिर आता है) आर्य ! उसको मारने के समय उसके बगल में यह मुहर की हुई पेटी गिर पड़ी ।

भागुरायण—(देख कर) कुमार ! इस पर भी राक्षस की मुहर है ।

मलयकेतु—यही लेख अशून्य करने को होगी । इसकी भी मुहर बचाकर हम को दिखलाओ ।

(भागुरायण पेटी खोल कर दिखलाता है)

मलयकेतु—अरे ! ये तो वही सब आभरण हैं जो हमने राक्षस को भेजे थे। निश्चय यह चन्द्रगुप्त को लिखा है ।

भागुरायण—कुमार ! अभी सब संशय मिट जाता है । भासुरक ! उसको और मारो ।

पुरुष—जो आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आता है) आर्य ! हमने उसको बहुत मारा है, अब कहता है कि अब हम कुमार से सब कह देंगे।

मलयकेतु—अच्छा, ले आओ ।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा (बाहर जाकर सिद्धार्थक को ले कर आता है।) ।

सिद्धार्थक—(मलयकेतु के पैरों पर गिर कर) कुमार हम को अभयदान दीजिये।

मलयकेतु—भद्र ! उठो, शरणागत जन यहाँ सदा अभय हैं। तुम इसका वृत्तांत कहो।

सिद्धार्थक—(उठ कर) सुनिये। मुझको अमात्य राक्षस ने यह पत्र देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा था।

मलयकेतु—जबानी क्या कहने को कहा या वह कहो।

सिद्धार्थक—कुमार मुझको अमात्य राक्षस ने यह कहने कहा था कि मेरे मित्र कुलूत देश के राजा चित्रवर्म्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, काश्मीरेश्वर पुष्कराक्ष, सिंधु-महाराज सिंधुसेन और पारसीक-पालक मेघाक्ष इन पाँच राजों से आप से पूर्व में संधि हो चुकी है। इसमें पहिले तीन तो मलयकेतु का राज चाहते हैं और बाकी दो खजाना और हाथी चाहते हैं। जिस तरह महाराज ने चाणक्य को उखाड़कर मुझको प्रसन्न किया उसी तरह इन लोगों को भी प्रसन्न करना चाहिये। यही राज संदेश है।

मलयकेतु—(आप ही आप) क्या चित्रवर्मादिक भी हमारे द्रोही हैं ? तभी राक्षस में उन लोगों की ऐसी प्रीति है। (प्रकाश) विजये ! हम अमात्य राक्षस को देखा चाहते हैं।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (जाती है)

[एक परदा हटता है और राक्षस आसन पर बैठा हुआ चिन्ता की मुद्रा में एक पुरुष के साथ दिखलाई पड़ता है]

राक्षस—(आप ही आप) चन्द्रगुप्त की ओर के बहुत लोग हमारी सेना में भरती हो रहे हैं इससे हमारा मन शुद्ध नहीं है। क्योंकि—

रहत साध्य तें अन्वित अरु बिलसत निज पच्छहिं।
सोई साधन साधक जो नहिं छुअत बिपच्छहिं॥

जो पुनि आपु असिद्ध, सपच्छ विपच्छहु में सम।
कछु कहुँ नहिं निज पच्छ माँहि जाको है संगम॥
नरपति ऐसे साधनन कों अनुचित अंगीकार करि।
सब भाँति पराजित होत हैं यादी लौं बहु बिधि बिगरि॥१२४॥

था जो लोग चन्द्रगुप्त से उदास हो गये हैं वही लोग इधर मिले हैं, मैं व्यर्थ सोच करता हूँ। (प्रगट) प्रियंवदक! कुमार के अनुयायी राजा लोगों से हमारी ओर से कह दो कि अब कुसुमपुर दिन दिन पास आता जाता है, इससे सब लोग अपनी सेना अलग अलग करके जो जहाँ नियुक्त हों यहाँ सावधानी से रहें।

आगे रस अब मगध चलें जय-ध्वजहिं उड़ाए।
यवन और गंधार रहें मधि सैन जमाए॥
चेदि-हून-सक-राज लोग पाछे सो धावहिं।
कौलूतादिक नृपति कुमारहिं घेरे आवहिं॥१२५॥

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा (जाता है)

[प्रतिहारी आती है]

प्रतिहारी—अमात्य की जय हो। कुमार अमात्य को देखना चाहते हैं।

राक्षस—भद्रे! क्षण भर ठहरो। बाहर कौन है?

[एक मनुष्य आता है]

मनुष्य—अमात्य! क्या आज्ञा है?

राक्षस—भद्र! शकटदास से कहो कि जब से कुमार ने हमको आभरण पहराया है तब से उनके सामने नंगे अंग जाना हमको उचित नहीं है। इससे जो तीन आभरण मोल लिये हैं उनमें से एक भेज दें।

मनुष्य—जो अमात्य की आज्ञा। (बाहर जाता है, आभरण लेकर आता है) अमात्य! अलंकार लीजिये।

राक्षस—(अलंकार धारण करके) भद्रे! राजकुल में जाने का मार्ग बतलाओ।

प्रतिहारी—इधर से आइये।

राक्षस—(स्वगत) अधिकार ऐसी बुरी वस्तु है कि निर्दोष मनुष्य का भी जी डरा करता है।

सेवक प्रभु सों डरत सदाहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं।
जे ऊँचे पद के अधिकारी। तिनको मनहीं मन भय भारी॥
सबही द्वेष बड़न सों करहीं। अनुछिन कान स्वामि को भरहीं॥१२६॥
जिमि जे जनमे ते मरैं, मिले अवसि बिलगाहिं।
तिमि जे अति ऊँचे चढ़े गिरिहैं, संसय नाहिं॥१२७॥

प्रतिहारी—(आगे बढ़कर) अमात्य! कुमार यह विराजते हैं, आप जाइये।

राक्षस—(देखकर) अरे कुमार यह बैठे हैं।

लखत चरन की ओर हूँ, तऊ न देखत ताहि।
अचल दृष्टि इक ओर ही, रही बुद्धि अवगाहि॥
कर पै धारि कपोल-निज लसत झुको अवनीस।
दुसह काज के भार सों मनहुँ नमित भो सीस॥१२८॥

(आगे बढ़कर) कुमार की जय हो!

मलयकेतु—आर्य! प्रणाम करता हूँ। आसन पर विराजिए।

(राक्षस बैठता है)

मलयकेतु—आर्य! बहुत दिनों से हम लोगों ने आपको नहीं देखा।

राक्षस—कुमार! सेना को आगे बढ़ाने के प्रबन्ध में फँसने कारण हमको यह उपालंभ सुनना पड़ा।

मलयकेतु—अमात्य! सेना के प्रयाण का आपने क्या प्रबन्ध किया है, मैं भी सुनना चाहता हूँ।

राक्षस—कुमार ! आपके अनुयायी राजा लोगों को यह आज्ञा दी है ('आगे खस अरु मगध' इत्यादि छंद पढ़ता है)।

मलयकेतु—(*आप ही आप*) हाँ ! *जाना; जो हमारे नाश* करने के हेतु चन्द्रगुप्त से मिले हैं वही हमको घेरे रहेंगे (प्रकाश) आर्य ! अब कुसुमपुर से कोई आता है या वहाँ जाता है कि नहीं ?

राक्षस—अब यहाँ किसी के आने जाने से क्या प्रयोजन ! पाँच छः दिन में हम लोग ही वहाँ पहुँचेंगे।

मलयकेतु—(आप ही आप) अभी सब खुल जाता है (प्रगट) जो यही बात है तो इस मनुष्य को चिट्ठी लेकर आपने कुसुमपुर क्यों भेजा था ?

राक्षस—(देखकर) अरे ! सिद्धार्थक है ? भद्र ! यह क्या ?

सिद्धार्थक—(आँसू भरकर और लज्जा नाट्य करके) अमात्य ! हम को क्षमा कीजिये। अमात्य ! हमारा कुछ भी दोष नहीं है। मार खाते खाते हम आपका रहस्य छिपा न सके।

राक्षस—भद्र ! वह कौन सा रहस्य है यह हमको नहीं समझ पड़ता।

सिद्धार्थक—निवेदन करते हैं, मार खाने से। (इतना ही कह लज्जा से नीचा मुँह कर लेता है)

मलयकेतु—भागुरायण ! स्वामी के सामने लज्जा और भय से यह कुछ न कह सकेगा; इससे तुम सब बात आर्य से कहो।

भागुरायण—कुमार की जो आज्ञा। अमात्य ! यह कहता है कि अमात्य राक्षस ने हमको चिट्ठी देकर और संदेश कहकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक ! क्या यह सत्य है ?

सिद्धार्थक—(लज्जा नाटय कर के) बहुत मार खाने के डर से मैंने कह दिया।

राक्षस—कुमार! यह झूठ है। मार खाने से लोग क्या नहीं कह देते।

मलयकेतु—भागुरायण! चिट्ठी दिखला दो और सँदेसा यह अपने मुँह से कहेगा।

(भागुरायण चिट्ठी खोलकर 'स्वस्ति कहीं से कोई किसी को' इत्यादि पढ़ता है।)

राक्षस—कुमार! कुमार! यह सब शत्रु का प्रयोग है।

मलयकेतु—लेख अशून्य करने को आर्य ने जो आभरण भेजे हैं वह शत्रु कैसे भेजेगा? (आभरण दिखलाता है)

राक्षस—कुमार! यह मैंने किसी को नहीं भेजा। कुमार ने यह मुझको दिया और मैंने प्रसन्न होकर सिद्धार्थक को दिया।

भागुरायण—अमात्य! क्या ऐसे उत्तम आभरणों का, विशेष कर अपने अंग से उतारकर कुमार की दी हुई वस्तु का, यह पात्र है?

मलयकेतु—और संदेश भी बड़े प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुनना यह आर्य ने लिखा है।

राक्षस—कैसा संदेश और कैसी चिट्ठी। यह हमारा कुछ नहीं है।

मलयकेतु—तो मुहर किसकी है?

राक्षस—धूर्त लोग कपटमुद्रा भी बना लेते हैं।

भागुरायण—कुमार! अमात्य सच कहते हैं। सिद्धार्थक! यह चिट्ठी किसकी लिखी है?

(सिद्धार्थक राक्षस का मुँह देखकर चुपचाप रह जाता है)

भागुरायण—चुप मत रहो। जी कड़ा करके कहो।

सिद्धार्थक—आर्य! शकटदास ने।

राक्षस—शकटदास ने लिखा तो मानों मैंने ही लिखा।

मलयकेतु—विजये! शकटदास को हम देखा चाहते हैं।

भागुरायण—(आप ही आप) आर्य चाणक्य के लोग विना निश्चय समझे हुए कोई बात नहीं करते। जो शकटदास आकर यह चिट्ठी किस प्रकार लिखी गई है यह सब वृत्तांत कह देगा तो मलयकेतु फिर बहक जायगा। (प्रकाश) कुमार! शकटदास अमात्य राक्षस के सामने लिखा होगा तो भी न स्वीकार करेंगे, इससे उनका कोई और लेख मँगाकर अक्षर मिला लिये जायँ।

मलयकेतु—विजये! ऐसा ही करो।

भागुरायण—और मुहर भी आवे।

मलयकेतु—हाँ, दोनों लाओ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा (बाहर जाती है और पत्र और मुहर लेकर आती है) कुमार! यह शकटदास का लेख और मुहर है।

मलयकेतु—(देखकर और अक्षर और मुहर का मिलान करके) आर्य! अक्षर तो मिलते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अक्षर निःसंदेह मिलते हैं, किन्तु शकटदास हमारा मित्र है, इस हिसाब से नहीं मिलते। तो क्या शकटदास ही ने लिखा? अथवा—

पुत्र दार की याद करि, स्वामिभक्ति तजि देत।
छोड़ि अचल जस कों करत चल धन सो जन हेत ॥१२९॥

या इसमें संदेह ही क्या है?

मुद्रा ताके हाथ मे, सिद्धार्थक हू मित्र।
ताही के कर को लिख्यौ, पत्रहु साधन चित्र ॥
मिलि कै शत्रुन सों करन भेद भूलि निज धर्म।
स्वामि-विमुख शकटहि कियो, निश्चय यह खल कर्म ॥१३०॥

मलयकेतु—आर्य! "श्रीमान् ने तीन आभरण भेजे, सो मिले" यह जो आपने लिखा है सो उसी में का एक आभरण यह भी है? (राक्षस के पहने हुए आभरण को देखकर आप ही आप) क्या यह

पिता के पहिने हुए आभरण हैं। (प्रकाश) आर्य! यह आभरण आपने कहाँ से पाया ?

राक्षस—जौहरी से मोल लिया था।

मलयकेतु—विजये! तुम इन आभरणों को पहचानती हो?

प्रतिहारी—(देखकर आँसू भर के) कुमार! हम सुगृहीतनामधेय महाराज पर्वतेश्वर के पहिरने के आभरणों को न पहचानेंगी ?

मलयकेतु—(आँखों में आँसू भरके)

भूषण-प्रिय! भूषण सबै कुल भूषण! तुव अंग।
तुव मुख ढिग इमि सोहतो जिमि ससि तारन संग ॥११॥

राक्षस—(आप ही आप) ये पर्वतेश्वर के पहिने हुए आभरण हैं ? (प्रकाश) जाना, यह भी निश्चय चाणक्य के भेजे हुए जौहरियों ने ही बेचा है।

मलयकेतु—आर्य! पिता के पहिने हुए आभरण, और फिर चन्द्रगुप्त के हाथ पड़े हुए जौहरी बेचें, यह कभी नहीं हो सकता। अथवा हो सकता है—

अधिक लाभ के लोभ सों, क्रूर! त्यागि सब नेह।
बदले इन आभरन के तुम बेच्यो मम देह ॥१२॥

राक्षस—(आप ही आप) अरे! यह दाँव तो पूरा बैठ गया।

मम लेख नहिं यह किमि कहैं मुद्रा छपी जब हाथ की।
विश्वास होत न शकट तजिहै प्रीति कबहूँ नाथ की॥
पुनि बेचिहैं नृप चंद भूषण, कौन यह पतियात है।
तासों भलो अब मौन रहनो, कथन तें पति जात है ॥१३॥

मलयकेतु—आर्य! हम पूछते हैं।

राक्षस—जो आर्य हो उससे पूछो, हम अब अनार्य हो गये हैं।

मलयकेतु—स्वामि-पुत्र तुव मौर्य, हम मित्र-पुत्र मद हेत।
पैहौ उत वाको दियो, इत तुम हमको देत ॥
सचिवहु मे उत दास ही, इत तुम स्वामी आप।
कौन अधिक तिर लोभ जो तुम कीनो यह पाप ! ॥१३४॥

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) कुमार ! इसका निर्णय तो आप ही ने कर दिया—

स्वामी-पुत्र मम मौर्य, तुम मित्र-पुत्र मद हेत।
पैहै उत याको दियो, इत हम तुमको देत ॥
सचिवहु मे उत दास ही, इत हम स्वामी आप।
कौन अधिक तिर लाभ जो, हम कीनो यह पाप ! ॥१३५॥

मलयकेतु—(चिट्ठी पेटी इत्यादि दिखलाकर) यह सब क्या है?

राक्षस—(आँखों में आँसू भर के) यह सब चाणक्य ने नहीं किया दैव ने किया।

निज प्रभु सों करि नेह जे भृत्य समर्पत देह।
तिन सों अपने सुत सरिस सदा निबाहत नेह ॥१३६॥
ते गुनगाहक नृप सबै जिन मारे छन माहिं।
ताही विधि को दोस यह औरन को कछु नाहिं ॥१३७॥

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) अनार्य ! अब तक छल किये जाते हो, कि यह सब दैव ने किया।

विष-कन्या दै रिनु हत्यौ प्रथम प्रीति उपजाय।
अब रिपु सों मिलि हम सरन बधन चहत ललचाय ॥१३८॥

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) हा ! यह और जले पर नमक है। (प्रगट कानों पर हाथ रखकर) नारायण ! देव पर्वतेश्वर का कोई अपराध हम ने नहीं किया।

मलयकेतु—फिर पिता को किसने मारा।

राक्षस—यह दैव से पूछो।

मलयकेतु—दैव से पूछें ? जीवसिद्धि क्षपणक से न पूछें

राक्षस—(आप ही आप) क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य गुप्तचर है ? हाय ! शत्रु ने हमारे हृदय पर भी अधिकार कर लिय

मलयकेतु—(क्रोध से) भासुरक ! शिखरसेन सेनापति कहो कि राक्षस से मिलकर चन्द्रगुप्त को प्रसन्न करने को पाँच रा जो हमारा बुरा चाहते हैं, उनमें कौलूत चित्रवर्मा, मलयाधिप सिंहनाद और काश्मीराधीश पुष्कराक्ष ये तीन हमारी भूमि क कामना रखते हैं, सो इनको भूमि ही में गाड़ दे, और सिंधुरा सुषेण और पारसीकपति मेघाक्ष हमारी हाथी की सेना चाहते सो इनको हाथी ही के पैर के नीचे पिसवा दो।

पुरुष—जो कुमार की आज्ञा। (जाता है)

मलयकेतु—राक्षस ! हम मलयकेतु हैं, कुछ तुमसे विश्वास घाती राक्षस नहीं हैं, इससे तुम जाकर अच्छी तरह चंद्रगुप्त का आश्रय करो।

चंद्रगुप्त चाणक्य सों, मिलिए सुख सों आप।
हम तीनहुँ को नासिहैं, जिमि त्रिवर्ग कहँ पाप ॥१३९॥

भागुरायण—कुमार ! व्यर्थ अब कालक्षेप मत कीजिये। कुसुमपुर घेरने को हमारी सेना चढ़ चुकी है।

उड़िकै तियगन-गंड जुगल कहँ मलिन बनावति।
अलिकुल से कल अलकन निज कन धवल छवावति॥
चपल तुरगखुर-घात उठी घन घुमड़ि नवीनी।
सत्रु सीस पैं धूरि परै गजमद सों भीनी ॥१४०॥

[अपने भृत्यों के साथ मलयकेतु जाता है]

राक्षस—(घबड़ाकर) हाय ! हाय ! चित्रवर्मादिक साधु सब व्यर्थ मारे गये। हाय ! राक्षस की सब चेष्टा शत्रु को नहीं, मित्रों ही के नाश करने को होती हैं। अब हम मंदभाग्य क्या करें ?

जाहि तपोवन, पै न मन शात होत यह क्रोध।
प्रान देहिं! रिपु के जियत, यह नारिन को बोध॥
खींचि खड्ग कर पतँग सम जाहि अनल अरि पास।
पै या साहस होइ है चंदनदास-विनास॥१४१॥

[सोचता हुआ जाता है]

इति पंचमांक

षष्ठ अंक

स्थान—नगर के बाहर

[कपड़ा-गहना पहिने हुए सिद्धार्थक आता है]

सिद्धार्थक—

जलद-नील-तन जयति जय केशव केशी काल।
जयति सुजन-जन दृष्टि-ससि चंद्रगुप्त नरपाल॥
जयति आर्य चाणक्य की नीति सहज बल-भौन।
बिनहीं साजे सैन नित जीतति अरि-कुल जौन॥१४२॥

चलो आज पुराने मित्र समिद्धार्थक से भेंट करें (घूमकर) अरे समिद्धार्थक आप ही इधर आता है।

[समिद्धार्थक आता है]

समिद्धार्थक—

मिटत तापर नहिं पान सों, होत उछाह विनास।
बिना मीत के सुख सबै औरहु करत उदास॥१४३॥

सुना है कि मलयकेतु के कटक से मित्र सिद्धार्थक आ गया है। उसीको खोजने को हम भी निकले हैं कि मिले तो बड़ा आनंद हो। (आगे बढ़कर) अहा! सिद्धार्थक तो यही है। कहो मित्र! अच्छे तो हो?

सिद्धार्थक—अहा! मित्र समिद्धार्थक आप ही आगये।

(बढ़कर) कहो मित्र ! क्षेम कुशल तो है।

[दोनों गले से मिलते हैं]

समिद्धार्थक—भला यहाँ कुशल कहाँ है ? जब तुम्हारे ऐसे मित्र बहुत दिन पीछे घर भी आया तो विना मिले फिर चला गया।

सिद्धार्थक—मित्र! क्षमा करो। मुझको देखतेही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी कि इस प्रिय वृत्तान्त को अभी चन्द्रमा के सदृश शोभा-वाले परमप्रिय महाराज प्रियदर्शन से जाकर कहो। मैं उसी समय महाराज के पास चला गया और उनसे निवेदन करके यह सब पुरस्कार पाकर तुमसे मिलने को तुम्हारे घर अभी जाता ही था।

समिद्धार्थक—मित्र जो सुनने के योग्य हो तो महाराज प्रिय-दर्शन से जो प्रिय वृत्तान्त कहा है यह हम भी सुनें।

सिद्धार्थक—मित्र तुमसे भी कोई बात छिपी है ? सुनो, आर्य चाणक्य की नीति से मोहित-मति होकर उस नष्ट मलयकेतु ने राक्षस को दूर कर दिया और चित्रवर्मादिक पाँचो प्रबल राजों को मरवा डाला। यह देखते ही और सब राजे अपने प्राण और राज्य का संशय समझकर भय से मलयकेतु के पड़ाव को छोड़कर सेना-सहित अपने अपने देश चले गये। जब शत्रु ऐसी निर्बल अवस्था में हुवा तो भद्रभट,पुरुषदत्त,डिंगुरात बलगुप्त,राजसेन,भागुरायण रोहिताक्ष,विजयवर्मा इत्यादि लोगों ने मलयकेतु को कैद कर लिया।

समिद्धार्थक—मित्र ! लोग तो यह जानते हैं कि भद्रभट इत्यादि लोग महाराज चन्द्रश्री को छोड़कर मलयकेतु से मिल गये हैं। तो क्या कुकवियों के नाटक की भाँति इसके मुख में तथा निर्वहन में और बात है ?

सिद्धार्थक—वयस्य ! सुनो, जैसे दैव की गति नहीं जानी जाती वैसे ही आर्य चाणक्य की जिस नीति की भी गति नहीं जानी जाती उसको नमस्कार है !

समिद्धार्थक—हाँ कहो, तब क्या हुआ ?

सिद्धार्थक—तब इधर से सब सामग्री लेकर आर्य चाणक्य बाहर निकले और विपक्ष के शेष राजों को निःशेष करके बर्बर लोगों की सब सामग्री लूट ली।

समिद्धार्थक—तो अब यह सब कहाँ है ?

सिद्धार्थक—यह देखो:—

गरजत गंड मद गरव गज, नदत मेघ-अनुहार।
चाबुक-भय चितवत चपल खड़े अस्व बहु द्वार ॥१४४॥

समिद्धार्थक—अच्छा यह सब जाने दो। यह कहो कि सब लोगों के सामने इतना अनादर पाकर फिर भी आर्य चाणक्य उसी मन्त्री के काम को क्यों करते हैं ?

सिद्धार्थक—मित्र ! तुम अब तक निरे सीधे सादे बने हो। अरे, अमात्य राक्षस भी आर्य चाणक्य की जिन चालों को नहीं समझ सकते उनको हम तुम क्या समझेंगे ?

समिद्धार्थक—वयस्य ! अमात्य राक्षस अब कहाँ हैं ?

सिद्धार्थक—उस मलय कोलाहल के बढ़ने के समय मलय-केतु की सेना से निकलकर उंदुर नामक चर के साथ कुसुमपुर ही की ओर यह आते हैं, यह आर्य चाणक्य को समाचार मिला है।

समिद्धार्थक—मित्र ! नंद राज्य के फिर से स्थापन की प्रतिज्ञा करके स्वनाम-तुल्य-पराक्रम अमात्य राक्षस, उसको पूरा किये बिना फिर कैसे कुसुमपुर आते हैं ?

सिद्धार्थक—हम सोचते हैं कि चंदनदास के स्नेह से।

समिद्धार्थक—ठीक है चंदनदास के स्नेह ही से। किन्तु तुम सोचते हो कि चंदनदास के प्राण बचेंगे ?

सिद्धार्थक—कहो उस दीन के प्राण बचेंगे ? हमी दोनों को वधस्थान में ले जाकर उसको मारना पड़ेगा।

समिद्धार्थक—(क्रोध से) क्या आर्य चाणक्य के पास को घातक नहीं है कि ऐसा नीच काम हम लोग करें ?

सिद्धार्थक—मित्र ! ऐसा कौन है जिसको इस जीवलो में रहना हो और वह आर्य चाणक्य की आज्ञा न माने ? चलो, हम लोग चांडाल का वेश बनाकर चंदनदास को वधस्थान में ले चलें।

[दोनों जाते हैं]

इति प्रवेशक

स्थान—बाहरी प्रांत में प्राचीन बारी

[फाँसी हाथ में लिये हुए एक पुरुष आता है]

षट-गुन सुदृढ़ गुथी, मुख फाँसी।
जय उपाय-परिपाटी गाँसी ॥
रिपु-बंधन में पटु प्रति पोरी।
जय चाणक्य-नीति की डोरी ॥१४५॥

(इधर-उधर घूमते हुए) आर्य चाणक्य के चर उंदुर ने इसी स्थान में मुझको अमात्य राक्षस से मिलने को कहा है। (देखकर) यह अमात्य राक्षस सब अंग छिपाये हुए आते हैं। तब तक इस पुरानी बारी में छिपकर हम देखें कि यह कहाँ ठहरते हैं। (छिपकर बैठता है)

[शस्त्र लिये हुए राक्षस आता है]

राक्षस—(आँखों में आँसू भरके) हाय ! बड़े कष्ट की बात है !

आश्रय बिनसे और पै जिमि कुलटा तिय जात।
तजि तिमि नंदहि चंचला चंद्रहि लपटी धात ॥१४६॥
देखादेखी प्रजहू सब कीनो ता अनुगौन।
तजिकै निज नृप नेह सब कियो कुसुमपुर भौन ॥१४७॥
बैर विफल उद्योग मैं तजिकै कारजभार।
आप्त मित्र हू थकि रहे बिन सिर जिमि धड़ हार ॥१४८॥

तजिकै निज पति भुवन-पति सुकुल जात नृप नंद ।
श्री वृषली गद वृषल ढिग, सील त्यागि कर छंद ॥१४९॥
जाइ तहाँ थिर ह्वै रही निज गुन सहज बिसारि ।
बस न चलत जब वाम विधि सर्व कछु देत बिगारि ॥१५०॥
नंद मरे, सैलेश्वरहिं देन चह्यो हम राज ।
सोऊ विनसे, तब कियो ता सुत-हित सो साज ॥१५१॥
विगरयौ तौन प्रवन्ध हू, मिटयौ मनोरथ-मूल ।
दोस कहा चाणक्य को ? दैवहि भो प्रतिकूल ॥१५२॥

वाह रे म्लेच्छ मलयकेतु की मूर्खता ! जिसने इतना नहीं समझा कि—

मरे स्वामिहू नहिं तज्यौ जिन निज-नृप-अनुराग ।
लोभ छाँड़ि दे प्रान जिन करी सत्रु सों लाग ॥१५३॥
सोई राक्षस सत्रु सों मिलिहै यह अंधेर ।
इतनो सूझ्यो बाहि नहिं, दई दैव मति फेर ॥१५४॥

सो अब भी शत्रु के हाथ में पड़ के राक्षस नाश हो जायगा पर चन्द्रगुप्त से सन्धि न करेगा । लोग झूठा कहें यह अपयश हो, पर शत्रु की बात कौन सहेगा ? (चारों ओर देखकर) हा ! इसी प्रान्त में देव नंद रथ पर चढ़ कर फिरने आते थे ।

इतहि देव अभ्यास हित सर सजि धनु संधानि ।
रचत रहे भव चित्र सम रथ मुचक्र परिखानि ॥१५५॥
जहँ नृपगन संकित रहे इत उत थमे लखात ।
सोई भुव ऊजर भई, दृगन लखी नहिं जात ॥१५६॥

हाय ! यह मन्दभाग्य अब कहाँ जाय ? (चारों ओर देखकर) चलो, इस पुरानी बारी में कुछ देर ठहर कर मित्र चंदनदास का कुछ समाचार लें । (घूम कर आप ही आप) अहा, पुरुषों के भाग्य की उन्नति अवनति की भी क्या क्या गति होती है, कोई

नहीं जानता।

जिमि नव-ससि कहँ सब लखत निज-निज करहि उठाय।
तिमि पुरजन हम को रहे लखत अनंद बढ़ाय ॥
चाहत हे नृपगने सबै जासु कृपा-दृग-कोर।
सो हम इत संकित चलत मानहुँ कोऊ चोर ॥१५७॥

वा जिस के प्रसाद से यह सब था, जब वही नहीं है तो यह होगा। (देखकर) यह पुराना उद्यान कैसा भयानक हो रहा है।

नसे विपुल नृप-कुल-सरिस बड़े बड़े गृह-जाल।
मित्र-नास सों साधुजन हिय-सम सूखे ताल ॥१५८॥
तरुवर भे फलहीन जिमि विधि बिगरे सब नीति।
तृन सों लोपी भूमि जिमि मति लहि मूढ़ कुनीति ॥१५९॥
तीछन परसु-प्रहार सों कटे तरोवर-गात।
रोभत मिलि पिंडुक सँग ताके घाव लखात ॥१६०॥
दुखी जानि निज मित्र कहँ अहि मनु लेत उसास।
निज केंचुल मिस धरत हैं फाहा तरु-ब्रन पास ॥१६१॥
तरुगन को सूख्यो हियो छिदे कीट सों गात।
दुखी पत्र-फल-छाँह बिनु मनु मसान सब जात ॥१६२॥

तो तब तक हम इस शिला पर, जो भाग्यहीनों को सुलभ है, बैठें। (बैठकर और कान देकर सुन कर) अरे! यह शंख-डंके मे मिला हुआ नांदी शब्द कहाँ हो रहा है?

अति ही तीछन होन सों फोरत श्रोता-कान।
जब न समायो घरन में तब इत कियो पयान ॥१६३॥
सङ्ख-पटह धुनि सों मिल्यो भारी मंगल नाद।
निकस्यो मनहु दिगंत की दूरी देखन स्वाद ॥१६४॥

(कुछ सोच कर) हाँ, जाना। यह मलयकेतु के पकड़े जाने पर राजकुल (रुक कर) मौर्यकुल को आनन्द देने को हो रहा है।

(आँखों में आँसू भरकर) हाय ! बड़े दुःख की बात है ।

मेरे बिनु अब जीति दल शत्रु पाइ बल घोर।
मोहि सुनावन हेतु ही कीन्हों शब्द कठोर ॥१६५॥

पुरुष—अब तो यह बैठे हैं, तो अब आर्य चाणक्य की आज्ञा पूरी करें। (राक्षस की ओर न देखकर अपने गले में फाँसी लगाना चाहता है)

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे ! यह फाँसी क्यों लगाता है ? निश्चय कोई हमारा-सा दुखिया है । जो हो, पूछें तो सही। (प्रकाश) भद्र यह क्या करते हो ?

पुरुष—(रोकर) मित्रों के दुःख से दुखी होकर हमारे ऐसे मन्दभाग्यों का जो कर्तव्य है ।

राक्षस—(आप ही आप) पहिले ही कहा था कि कोई हमारा-सा दुखिया है । (प्रकाश) भद्र ! जो अति गुप्त वा किसी विशेष कार्य की बात न हो तो हमसे कहो कि तुम क्यों प्राण-त्याग करते हो ।

पुरुष—आर्य ! न तो गुप्त ही है, न कोई बड़े काम की बात है, परन्तु मित्र के दुःख से मैं अब क्षण भर भी ठहर नहीं सकता।

राक्षस—(आप ही आप दुःख से) मित्र की विपत्ति में हम पराये लोगों की भाँति उदासीन होकर जो देर करते हैं, मानों उसमें शीघ्रता करने की, यह अपना दुःख कहने के बहाने, शिक्षा देता है । (प्रकाश) भद्र ! जो रहस्य नहीं है तो हम सुना चाहते हैं कि तुम्हारे दुःख का क्या कारण है ?

पुरुष—आपको इसमें बड़ा ही हठ है तो कहना पड़ा। इस नगर में जिष्णुदास नामक एक महाजन है ।

राक्षस—(आप ही आप) यह तो चंदनदास का बड़ा मित्र है । (प्रकट) उसे क्या हुआ ?

पुरुष—यह हमारा प्यारा मित्र है।

राक्षस—(आपही आप) कहता है कि यह हमारा प
है। इस अति निकट सम्बन्ध से इस को चन्दनदास क
ज्ञात होगा। (प्रकट) भद्र! उसके विषय में क्या हु

पुरुष—(रोकर) सो दीन जनों को सब धन देक
अग्निप्रवेश करने जाता है। यह सुन कर हम यहाँ अ
इस दुःख वार्ता सुनने के पूर्व ही अपना प्राण दे दें।

राक्षस—भद्र! तुम्हारे मित्र के अग्निप्रवेश का कारण

के तेहि रोग असाध्य भयो,
कोऊ जाको न औषध नाहिं निदान है

पुरुष—नहीं आर्य!

राक्षस—कै विष अग्निहु सो बढ़िकै
नृप-कोप महा फँसि त्यागत प्रान

पुरुष—राम राम! चन्द्रगुप्त के राज्य में लोगों
हिंसा का भय कहाँ?

राक्षस—कै कोउ सुंदरी पै जिय देत,
लग्यो हिय माहिं वियोग को बान

पुरुष—राम राम! महाजन लोगों की यह च
विशेष कर साधु जिष्णुदास की।

राक्षस—तौ कहुँ मित्रहि को दुख याहु को,
नास को हेतु तुम्हारे समान है!

पुरुष—हाँ आर्य।

राक्षस—(घबड़ा कर आपही आप) अरे, इसके
प्रिय मित्र तो चन्दनदास ही है और यह कहता है कि सु
ही उसके विनाश का हेतु है, इससे मित्र के स्नेह से
बहुत घबड़ाता है। (प्रकाश) भद्र! तुम्हारे मित्र

सविस्तर सुना चाहते हैं।

पुरुष—आर्य ! अब मैं किसी प्रकार से मरने में विलम्ब नहीं कर सकता।

राक्षस—यह वृत्तांत तो अवश्य सुनने के योग्य है, इससे कहो।

पुरुष—क्या करें। आप ऐसा हठ करते हैं तो सुनिये।

राक्षस—हाँ ! जी लगाकर सुनते हैं, कहो।

पुरुष—आपने सुना ही होगा कि इस नगर में प्रसिद्ध जौहरी सेठ चंदनदास हैं।

राक्षस—(दुःख से आप ही आप) दैव ने हमारे विनाश का द्वार अब खोल दिया। हृदय ! स्थिर हो, अभी न जाने क्या क्या कष्ट तुम को सुनना होगा। (प्रकाश) भद्र ! हमने भी सुना है कि वह साधु अत्यन्त मित्रवत्सल है। उन्हें क्या हुआ ?

पुरुष—वह जिष्णुदास के अत्यंत मित्र हैं।

राक्षस—(आप ही आप) यह सब हृदय के हेतु शोक का वज्रपात है। (प्रकाश) हाँ, आगे।

पुरुष—सो जिष्णुदास ने मित्र की भाँति चन्द्रगुप्त से बहुत विनय किया।

राक्षस—क्या क्या ?

पुरुष—कि देव ! हमारे घर में जो कुछ कुटुम्बपालन का द्रव्य है, आप सब ले लें, पर हमारे मित्र चंदनदास को छोड़ दें।

राक्षस—(आप ही आप) वाह जिष्णुदास ! तुम धन्य हो ! तुम ने मित्रस्नेह का निर्वाह किया।

जा धन के हित नारी तजै पति, पूत तजै पितु सीलहिं खोई।
भाई सों भाई लरैं रिपु से, पुनि मित्रता मित्र तजै दुख जोई॥
ता धन को बनिया है गिन्यौ न, दियो दुख मीत सों आरत होई।
स्वारथ अर्थ तुम्हारोई है तुमरे सम औरन या जग कोई॥१६७॥

(प्रकाश) इस बात पर मौर्य ने क्या कहा ?

पुरुष—आर्य! इसपर चंद्रगुप्त ने उससे कहा कि "जिष्णुदा
हमने धन के हेतु चंदनदास को दंड नहीं दिया है। इसने अमा
राक्षस का कुटुंब अपने घर में छिपाया और बहुत माँगने पर भी न
दिया। अब भी जो यह दे दे तो छूट जाय, नहीं तो इसको प्राणदं
होगा। तभी हमारा क्रोध शांत होगा और दूसरे लोगों को भी इसने
डर होगा।" यह कह उसको वध-स्थान में भेज दिया। जिष्णुदास
ने कहा कि "हम कान से अपने मित्र का अमंगल सुनने के पहिले
मर जायँ तो अच्छी बात है" और अग्नि में प्रवेश करने को वन में
चले गये। हमने भी इसी हेतु कि उनका मरण न सुनें, यह निश्चय
किया कि फाँसी लगाकर मर जायँ और इसी हेतु यहाँ आये हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) अभी चंदनदास को मारा तो नहीं!

पुरुष—आर्य! अभी नहीं मारा है, बारंबार अब भी उनसे
अमात्य राक्षस का कुटुंब माँगते हैं, और वह मित्रवत्सलता से
नहीं देते; इसी में इतना विलंब हुआ।

राक्षस—(सहर्ष आप ही आप) वाह, मित्र चंदनदास!
वाह! धन्य! धन्य!

मित्र-परोच्छहुँ मैं कियो सरनागत प्रतिपाल।
निरमल जस सिवि-सो लियो तुम या काल कराल ॥१६८॥

(प्रकाश) भद्र! तुम शीघ्र जाकर जिष्णुदास को जलने से
रोको; हम जाकर अभी चंदनदास को छुड़ाते हैं।

पुरुष—आर्य! आप किस उपायसे चंदनदास को छुड़ाइयेगा?

राक्षस—(खड्ग मियान से खींचकर) इस दुःख में एकांत
मित्र निष्कृप कृपाण से।

समर-साध तन पुलकित, नित साथी मम कर को।
रन महँ बारहि बार परिछ्यौ जिन बल पर को॥

विगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत।
मीत-कष्ट सों दुखिहु मोहि रनहित उमगावत॥१६९॥

पुरुष—सेठ चंदनदास के प्राण बचाने का उपाय मैंने सुना, किंतु ऐसे टेढ़े समय में इसका परिणाम क्या होगा, यह मैं नहीं कह सकता। (राक्षस को देखकर पैर पर गिरता है) आर्य! क्या सुगृहीत-नामधेय अमात्य राक्षस आप ही हैं? यह मेरा संदेह आप दूर कीजिये।

राक्षस—भद्र! भर्तृकुल-विनाश से दुखी और मित्र के नाश का कारण यथार्थ-नामा अनार्य राक्षस मैं ही हूँ।

पुरुष—(फिर पैर पर गिरता है) धन्य हैं! बड़ा ही आनंद हुआ। आपने हमको आज कृतकृत्य किया।

राक्षस—भद्र! उठो। देर करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिष्णुदास से कहो कि राक्षस चंदनदास को अभी छुड़ाता है।

[खड्ग खींचे हुए 'समर साध' इत्यादि पढ़ता हुआ इधर-उधर टहलता है]

पुरुष—(पैर पर गिरकर) अमात्यचरण! प्रसन्न हों। मैं यह विनती करता हूँ कि चन्द्रगुप्त दुष्ट ने पहिले शकटदास के वध की आज्ञा दी थी। फिर न जाने कौन शकटदास को छुड़ा कर उसको कहीं परदेश में भगा ले गया। आर्य शकटदास के वध में धोखा खाने से चन्द्रगुप्त ने क्रोध करके प्रमादी समझकर उन वधिकों ही को मार डाला। तबसे वधिक जो किसी को वधस्थान में ले जाते हैं और मार्ग में किसी को शस्त्र खींचे हुए देखते हैं, तो छुड़ा ले जाने के भय से अपराधी को बीच ही में तुरंत मार डालते हैं। इससे शस्त्र खींचे हुए आपके वहाँ जाने से चंदनदास की मृत्यु में और भी शीघ्रता होगी। (जाता है)

राक्षस—(आप ही आप) उस चाणक्य बटु का नीतिमार्ग कुछ

[कंधे पर सूली रक्खे मृत्यु का कपड़ा पहिने चंदनदास, उसकी स्त्री और पुत्र, और दूसरा चांडाल आते हैं]

स्त्री—हाय हाय ! जो हम लोग नित्य अपनी बात बिगड़ने के डर से फूँक-फूँक कर पैर रखते थे उन्हीं हम लोगों की चोरों की भाँति मृत्यु होती है । काल देवता को नमस्कार है जिसको मित्र उदासीन सभी एक से हैं, क्योंकि—

छोड़ि माँस-भख मरन-भय जियहिं खाइ तृन घास ।
तिन गरीब मृग को करहिं निरदय ब्याधा नास ॥१७३॥

[चारों ओर देखकर]

अरे भाई जिष्णुदास ! मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं देते ? हाय ! ऐसे समय में कौन ठहर सकता है ?

चंदन०—(आँसू भरकर) हाय ! ये मेरे सब मित्र बेचारे कुछ नहीं कर सकते, केवल रोते हैं और अपने को अकर्मण्य समझ शोक से सूखा-सूखा मुँह किये आँसूभरी आँखों से एक-टक मेरी ही ओर देखते चले आते हैं ।

दोनों चांडाल—अजी चंदनदास ! अब तुम फाँसी के स्थान पर आ चुके इससे कुटुंब को बिदा करो ।

चंदन०—(स्त्री से) अब तुम पुत्र को लेकर जाओ, क्योंकि आगे तुम्हारे जाने की भूमि नहीं है ।

स्त्री—ऐसे समय में तो हम लोगों को बिदा करना उचित ही है, क्योंकि आप परलोक में जाते हैं, कुछ परदेश नहीं जाते । (रोती है)

चंदन०—सुनो ! मैं कुछ अपने दोष से नहीं मारा जाता, एक मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, तो इस हर्ष के स्थान पर क्यों रोती हो ?

स्त्री—नाथ ! जो यह बात है तो कुटुंब को क्यों बिदा करते हो?

चंदन०—तो फिर तुम क्या कहती हो?

स्त्री—(आँसू भरकर) नाथ! कृपा करके मुझे भी साथ चलो।

चंदन०—हा! यह तुम कैसी बात कहती हो? अरे! तु इस बालक का मुँह देखो और इसकी रक्षा करो, क्योंकि य बेचारा कुछ भी लोक-व्यवहार नहीं जानता। यह किस का मुँ देख करके जीयेगा?

स्त्री—इसकी रक्षा कुलदेवी करेंगी। बेटा! अब पिता फि न मिलेंगे, इससे मिलकर प्रणाम कर ले।

बालक—(पैरों पर गिर के) पिता! मैं आप के बिना क्या करूँगा?

चंदन०—बेटा! जहाँ चाणक्य न हो वहाँ बसना।

दोनों चांडाल—(सूली खड़ी करके) अजी चन्दनदास देखो, सूली खड़ी हुई, अब सावधान हो जाओ।

स्त्री—(रोकर) लोगो! बचाओ, अरे! कोई बचाओ!

चंदन—भाइयो, तनिक ठहरो (स्त्री से) अरे! अब तुम रो-रोकर क्या नंदों को स्वर्ग से बुला लोगी? अब वे लोग यहाँ नहीं हैं जो स्त्रियों पर सर्वदा दया रखते थे।

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक! पकड़ इस चंदनदास को, घरवाले आप ही रो-पीटकर चले जायँगे।

२ चांडाल—अच्छा वज्रलोमक, मैं पकड़ता हूँ।

चंदन०—भाइयो! तनिक ठहरो, मैं अपने लड़के से तो मिल लूँ। (लड़के को गले लगाकर और माथा सूँघकर) बेटा! मरना तो था ही, पर एक मित्र के हेतु मरते हैं, इससे सोच मत कर।

पुत्र—पिता! क्या हमारे कुल के लोग ऐसा ही करते आये हैं? (पैर पर गिर पड़ता है)।

२ चांडाल—पकड़ रे वज्रलोमक ! (दोनों चंदनदास को पकड़ते हैं)।

स्त्री—लोगो ! बचाओ रे, बचाओ !

[वेग से राक्षस आता है]

राक्षस—डरो मत, डरो मत। सुनो सुनो, घातको ! चंदनदास को मत मारना, क्योंकि—

नसत स्वामिकुल जिन लख्यौ, निज चख शत्रु समान।
मित्र दुःख हू में धर्यो, निलज होइ जिन प्रान॥
तुमसों हारि बिगारि सब, कढ़ी न जाकी साँस।
ता राक्षस के कंठ में, डारहु यह जमफाँस॥१७४॥

चंदन०—(देखकर और आँखों में आँसू भरकर) अमात्य ! यह क्या करते हो ?

राक्षस—मित्र, तुम्हारे सच्चरित्र का एक छोटा-सा अनुकरण।

चंदन०—अमात्य, मेरा किया तो सब निष्फल हो गया, पर आपने ऐसे समय यह साहस अनुचित किया।

राक्षस—मित्र चंदनदास ! उलहना मत दो, सभी स्वार्थी हैं। (चांडाल से) अजी, तुम उस दुष्ट चाणक्य से कहो।

दोनों चांडाल—क्या कहें ?

राक्षस—

जिन कलि मैं हू मित्र-हित, तृन सम छोड़्यो प्रान।
जाके जस-रवि सामुहे, सिवि-जस दीप समान॥१७५॥
जासो अति निर्मल चरित, दया आदि नित जानि।
बौद्धहु सब लज्जित भये, परम शुद्ध जेहि मानि॥१७६॥
ता पूजा के पात्र को, मारत धरि तू पाप !
जाके हित, सो सत्रु तुव, आयो इत मैं आप॥१७७॥

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! तू चंदनदास को पकड़कर इस

चंदन०—तो फिर तुम क्या कहती हो ?

स्त्री—(आँसू भरकर) नाथ ! कृपा करके मुझे भी स
चलो।

चंदन०—हा ! यह तुम कैसी बात कहती हो ? अरे !
इस बालक का मुँह देखो और इसकी रक्षा करो, क्योंकि
बेचारा कुछ भी लोक-व्यवहार नहीं जानता। यह किस क
देख करके जीयेगा ?

स्त्री—इसकी रक्षा कुलदेवी करेंगी। बेटा ! अब पिता
न मिलेंगे, इससे मिलकर प्रणाम कर ले।

बालक—(पैरों पर गिर के) पिता ! मैं आप के बिना
करूँगा ?

चंदन०—बेटा ! जहाँ चाणक्य न हो वहाँ बसना।

दोनों चांडाल—(सूली खड़ी करके) अजी चन्दनदास
देखो, सूली खड़ी हुई, अब सावधान हो जाओ।

स्त्री—(रोकर) लोगो ! बचाओ, अरे ! कोई बचाओ !

चंदन—भाइयो, तनिक ठहरो (स्त्री से) अरे ! अब तु
रो-रोकर क्या नंदों को स्वर्ग से बुला लोगी ? अब वे लो
यहाँ नहीं हैं जो स्त्रियों पर सर्वदा दया रखते थे।

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक ! पकड़ इस चंदनदास को
घरवाले आप ही रो-पीटकर चले जायँगे।

२ चांडाल—अच्छा वज्रलोमक, मैं पकड़ता हूँ।

०—भाइयो ! तनिक ठहरो, मैं अपने लड़के से तो मिल
लगाकर और माथा सूँघकर) बेटा ! मरना तो
मित्र के हेतु मरते हैं, इससे सोच मत कर।
! क्या हमारे कुल के लोग ऐसा ही करते आये
पड़ता है)।

२ चांडाल—पकड़ रे वज्रलोमक! (दोनों चंदनदास को पकड़ते हैं)।

स्त्री—लोगो! बचाओ रे, बचाओ!

[वेग से राक्षस आता है]

राक्षस—डरो मत, डरो मत। सुनो सुनो, घातको! चंदनदास को मत मारना, क्योंकि—

नसत स्वामिकुल जिन लख्यौ, निज चख शत्रु समान।
मित्र दुःख हू मैं धरयो, निलज होइ जिन प्रान॥
तुमसों हारि बिगारि सब, कढ़ी न जाकी साँस।
ता राक्षस के कंठ में, डारहु यह जमफाँस॥१७४॥

चंदन०—(देखकर और आँखों में आँसू भरकर) अमात्य! यह क्या करते हो?

राक्षस—मित्र, तुम्हारे सच्चरित्र का एक छोटा-सा अनुकरण।

चंदन०—अमात्य, मेरा किया तो सब निष्फल हो गया, पर आपने ऐसे समय यह साहस अनुचित किया।

राक्षस—मित्र चंदनदास! उलहना मत दो, सभी स्वार्थी हैं। (चांडाल से) अजी, तुम उस दुष्ट चाणक्य से कहो।

दोनों चांडाल—क्या कहें?

राक्षस—

जिन कलि मैं हू मित्र-हित, तृन सम छोड्यो प्रान।
जाके जस-रवि सामुहे, सिवि-जस दीप समान॥१७५॥
जाको अति निर्मल चरित, दया आदि नित जानि।
बौद्दहु सब लज्जित भये, परम शुद्ध जेहि मानि॥१७६॥
ता पूजा के पात्र को, मारत धरि तू पाप!
जाके हित, सो सत्रु तुव, आयो इत मैं आप॥१७७॥

१ चांडाल—अरे वेणुवेत्रक! तू चंदनदास को पकड़कर इस

मसान के पेड़ की छाया में बैठ, तब से मंत्री चाणक्य को मैं समाचार दूँ कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

२ चांडाल—अच्छा रे वज्रलोमक! (चंदनदास, स्त्री, बालक और सूली को लेकर जाता है)

१ चांडाल—(राक्षस को लेकर घूमकर) अरे! यहाँ पर कौन है? नंदकुल-सेनासंचय के चूर्ण करनेवाले वज्र से, वैसे ही मौर्यकुल में लक्ष्मी और धर्म स्थापना करनेवाले, आर्य चाणक्य से कहो—

राक्षस—(आप ही आप) हाय! यह भी राक्षस को सुनना लिखा था!

१ चांडाल—कि आपकी नीति ने जिसकी बुद्धि को घेर लिया है, वह अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

[परदे में सब शरीर छिपाये केवल मुँह खोले चाणक्य आता है]

चाणक्य—अरे। कहो, कहो-।

किन निज बसननि में धरी कठिन अगिनि की ज्वाल!
रोकी किन गति वायु की डोरिन ही के जाल!
किन गजपति-मरदन प्रबल सिंह पींजरा दीन!
किन केवल निज बाहु-बल पार समुद्रहिं कीन? ॥१७८॥

१ चांडाल—परम नीतिनिपुण आप ही ने तो।

चाणक्य—अजी! ऐसा मत कहो, वरन "नंदकुलद्वेषी दैव ने" यह कहो।

राक्षस—(देखकर आपही आप) अरे! क्या यही दुरात्मा [या] महात्मा कौटिल्य है?

सागर जिमि बहु रत्नमय, तिमि सब गुन की खानि।
तोष होत नहिं देखि गुन, बैरी हू निज जानि ॥१७९॥

चाणक्य—(देखकर) अरे! यही अमात्य राक्षस है?
..त्मा ने—

यह दुख सों सोचत सदा, जागत रैन बिहाय ।
मेरी मति अरु चन्द्र की सैनहि दई थकाय ॥१८०॥

(परदे से बाहर निकल कर) अजी अजी अमात्य राक्षस ! मैं विष्णुगुप्त आपको दंडवत् करता हूँ। (पैर छूता है)

राक्षस—(आप ही आप) अब मुझे अमात्य कहना तो केवल मुँह चिढ़ाना है (प्रगट) अजी विष्णुगुप्त ! मैं चांडालों से छू गया हूँ इससे मुझे मत छूओ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! यह श्वपाक नहीं है, यह आपका जाना-सुना सिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है, और दूसरा भी समिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है, और इन्हीं दोनों द्वारा विश्वास उत्पन्न करके उस दिन शकटदास को धोखा देकर मैंने यह पत्र लिखवाया था।

राक्षस—(आप ही आप) अहा ! बहुत अच्छा हुआ कि मेरा शकटदास पर से संदेह दूर हो गया।

चाणक्य—बहुत कहाँ तक कहूँ—

ये सब भद्रभटादि, यह सिद्धार्थक, यह लेख ।
यह भदंत, यह भूषणहु, यह नट आरत भेख ॥
यह दुख चंदनदास को, जो कछु दियो दिखाय ।
सो सब मम (लज्जा से कुछ सकुचाकर)
सो सब राजा चंद को तुमसों मिलन उपाय ॥१८१॥

देखिये, यह राजा भी आप से मिलने आप ही आते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अब क्या करें ? (प्रगट) हाँ ! मैं देख रहा हूँ।

[सेवकों के संग राजा आता है]

राजा—(आप ही आप) गुरुजी ने बिना युद्ध ही दुर्जय शत्रु का कुल जीत लिया, इसमें कोई संदेह नहीं। मैं तो बड़ा लज्जित हो

रहा हूँ क्योंकि—

> है रिपु काम भजाय करि, तीनों गुन भरि मोह।
> सोवत सदा निशंक मैं, मम शासन के रोह॥
> सोरहि धनुष उतारि हम, अदरि मर्कहि जग जीति।
> जाके गुरु जागत सदा, नीति-निपुन गत-भीति ॥१८२॥

[चाणक्य के पास जाकर, आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।]

चाणक्य—वृषल ! अब सब असीस सची हुईं, इससे इन पूज्य अमात्य राक्षस को नमस्कार करो। यह तुम्हारे पिता के सब मंत्रियों में मुख्य हैं।

राक्षस—(आप ही आप) लगाया न इसने संबंध।

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अहा ! यही चन्द्रगुप्त है !

> होनहार जाको उदय, बालपने ही जोइ।
> राज लह्यो जिन बाल गज, जूथाधिप सम होइ॥१८३॥

(प्रगट) महाराज ! जय हो।

राजा—आर्य !

> तुम्हरे आछत बहुरि गुरु, जागत नीति प्रवीन।
> कहहु कहा या जगत में, जाहि न जय हम कीन ॥१८४॥

राक्षस—(आप ही आप) देखो, यह चाणक्य का सिखाया पढ़ाया मुझसे कैसी सेवकों की सी बातें करता है। नहीं, नहीं; यह आप ही विनीत है। अहा ! देखो चन्द्रगुप्त पर डाह के बदले उलटा अनुराग होता है। चाणक्य सब स्थान पर यशस्वी है, क्योंकि—

> पाइ स्वामि सतपात्र जो, मंत्री मूरख होइ।
> तौहू पावै लाभ जस, इत तौ पंडित दोइ॥

मूरख स्वामी लहि गिरे चतुर सचिव हू हारि ।
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन ह्वै लहि वारि ॥१८५॥

चाणक्य—क्यों अमात्य राक्षस ! आप क्या चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हैं ?

राक्षस—इसमें क्या संदेह है ?

चाणक्य—पर अमात्य ! आप शस्त्र ग्रहण नहीं करते, इससे संदेह होता है कि आपने अभी राजा पर अनुग्रह नहीं किया, इससे जो सच ही चंदनदास के प्राण बचाया चाहते हों तो यह शस्त्र लीजिये ।

राक्षस—सुनो विष्णुगुप्त ! ऐसा कभी नहीं होसकता, क्योंकि हम इस योग्य नहीं। विशेष करके जब तक तुम शस्त्र ग्रहण किये हो तब तक हमारे शस्त्र ग्रहण करने का क्या काम है ?

चाणक्य—भला अमात्य ! आपने यह कहाँ से निकाला, कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य हैं ? क्यों कि देखिये—

रहत लगामहिं कसे अश्व की पीठ न छोड़त ।
न्हान पान असनान भोग तजि मुख नहिं मोड़त ॥
छूटे सब सुख साज नींद नहिं आवत नयनन ।
निसि दिन चौंकत रहत वीर सब भय धरि निज मन ॥
यह हौदन सों गज सबन बरसों नृप-गजगन अवरेखिये ।
रिपुदर्प दूर करि अति प्रबल निज महात्म-बल देखिये ॥१८६॥

वा इन बातों से क्या ! आपके शस्त्र ग्रहण किये बिना तो चंदनदास बचता भी नहीं ।

राक्षस—(आप ही आप)

नंद-नेह छूट्यो नहीं, दास भये अरि साथ ।
ते तरु कैसे काटिहैं, जे पाले निज हाथ ॥

कैसे करिहैं मित्र पै हम निज कर सों घात ॥
अहो भाग्य-गति अति प्रबल, मोहि कछु जानि न जात॥१८८॥

(प्रकाश) अच्छा विष्णुगुप्त! मँगाओ खड्ग "नमस्सर्वकार्य-प्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय" देखो, मैं उपस्थित हूँ।

चाणक्य—(राक्षस को खड्ग देकर हर्ष से) राजन् वृषल! बधाई है! बधाई है! अब अमात्य राक्षस ने तुम पर अनुग्रह किया। अब तुम्हारी दिन दिन बढ़ती ही है।

राजा—यह सब आपकी कृपा का फल है।

[पुरुष आता है]

पुरुष—जय हो महाराज की जय हो। महाराज! भद्रभट, भागुरायणादिक मलयकेतु को हाथ पैर बाँधकर लाये हैं और द्वार पर खड़े हैं। इस में महाराज की क्या आज्ञा होती है?

चाणक्य—हाँ, सुनो। अजी! अमात्य राक्षस से निवेदन करो। अब सब काम वही करेंगे।

राक्षस—(आप ही आप) कैसे अपने वश में करके मुझी से कहलाता है। क्या करें? (प्रकाश) महाराज चन्द्रगुप्त! यह तो आप जानते ही हैं कि हम लोगों का मलयकेतु का कुछ दिन तक संबंध रहा है। इससे उसके प्राण तो बचाने ही चाहियें।

[राजा चाणक्य का मुँह देखता है]

चाणक्य—महाराज! अमात्य राक्षस की पहिली बात तो सर्वथा माननी ही चाहिये। (पुरुष से) अजी! तुम भद्रभटादिकों से कह दो कि "अमात्य राक्षस के कहने से महाराज चन्द्रगुप्त मलयकेतु को उसके पिता का राज्य देते हैं" इससे तुम लोग संग जाकर उसको राज्य पर बिठा आओ।

पुरुष—जो आज्ञा!

—अजी अभी ठहरो, सुनो! दुर्गपाल विजयपाल से कहो

कि अमात्य राक्षस के शस्त्र-ग्रहण से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त यह आज्ञा करते हैं कि "चंदनदास को सब नगरों का जगत्सेठ करदो।"

पुरुष—जो आज्ञा (जाता है)।

चाणक्य—चंद्रगुप्त! अब और मैं क्या तुम्हारा प्रिय करूँ?

राजा—इस से बढ़कर और क्या भला होगा?

मैत्री राक्षस सों भई, मिल्यौ अकंटक राज।
नंद नसे सब अब कहा, यासों बढ़ि सुखसाज॥१८९॥

चाणक्य—(प्रतिहारी से) विजये! दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि "अमात्य राक्षस के मेल से प्रसन्न हो कर महाराज चंद्रगुप्त आज्ञा करते हैं कि हाथी, घोड़ों को छोड़कर और सब बँधुओं का बंधन छोड़ दो" वा जब अमात्य राक्षस मंत्री हुए तब अब हाथी घोड़ों का क्या सोच है? इससे—

छोड़ो सब गज तुरग अब, कछु मत राखौ बाँधि।
केवल हम बाँधत सिखा निज परतिज्ञा साधि॥१९०॥

(शिखा बाँधता है)

प्रतिहारी—जो आज्ञा (जाती है)।

चाणक्य—अमात्य राक्षस! मैं इससे बढ़कर और कुछ भी आप का प्रिय कर सकता हूँ?

राक्षस—इससे बढ़कर और हमारा क्या प्रिय होगा? पर जो इतने पर भी संतोष न हो तो यह आशीर्वाद सत्य हो—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिम्प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीम्पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः"॥११९॥

[सब जाते हैं]

❀ इति ❀

परिशिष्ट—क

नाटक सम्बन्धी परिभाषायें

प्राचीन काव्य मुख्य दो भागों में बाँटा गया है (१) दृश्य (२) श्रव्य। दृश्य का अर्थ है देखने योग्य अर्थात् जिसके देखने में आनंद आये। इसे रूपक भी कहते हैं। श्रव्य का अर्थ है सुनने योग्य अर्थात् जिसके पढ़ने और सुनने में आनन्द आये।

दृश्य काव्य के दो भेद हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं जिन में नाटक मुख्य है। नाटक दृश्य काव्य का एक भेद होने पर भी मुख्य रूप से ग्रहण किये जाने के कारण समग्र दृश्य काव्य का द्योतक होगया है।

१ नाटक—नाटक वह दृश्य काव्य है जिसकी कथा प्रसिद्ध मनोहर और उज्ज्वल हो। जिसका नायक कोई राजा (जैसे हरिश्चंद्र या चन्द्रगुप्त आदि) अथवा कोई देवता या देवतांश (कृष्ण रामचंद्र आदि) हो। शृंगार या वीर में से कोई एक मुख्य रस होना चाहिए और पाँच से लेकर दस तक अंक।

२ वस्तु—नाटक में जिस कथा (इतिवृत्त) का वर्णन होता है उसे वस्तु कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अधिकारिक और प्रासङ्गिक। नाटक की मुख्य कथा को अधिकारिक वस्तु कहते हैं। मुख्य कहानी को अन्तिम हद तक पहुँचाने में सहायता देने वाले कथाभाग को प्रासङ्गिक वस्तु कहते हैं।

३ नायक—नाटक में वर्णन की गई वस्तु के फल का जो भोक्ता होता है उसे नायक कहते हैं। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत। आत्मश्लाघारहित, क्षमाशील, विनयसंपन्न, गंभीर, बलवान् तथा स्थिर नायक को धीरोदात्त कहते हैं (जैसे युधिष्ठिर, चन्द्रगुप्त)। आत्मश्लाघायुक्त, घमंडी,

मायावी तथा प्रचंड नायक धीरोद्धत कहलाते हैं (जैसे भीमसेन); निश्चिंत, मृदु और नृत्यगीतादि प्रिय नायक को धीरललित तथा त्यागी और कृती नायक को धीरप्रशांत कहते हैं।

४ प्रतिनायक—नायक के प्रतिद्वंद्वी को प्रतिनायक कहते हैं। जैसे इस नाटक में मलयकेतु।

५ रंगभूम—जिस जगह नाटक खेला जाता है उसे रंगभूमि कहते है।

६ नैपथ्य—स्टेज के दोनों तरफ़ परदे के अंदर नटों (एक्टरों) के कपड़े आदि बदलने की जगह को नैपथ्य कहते है।

७ जवनिका—*रंगभूमि के सम्मुख द्वार पर जो मुख्य परदा पड़ा* रहता है उसे जवनिका कहते हैं।

८ नांदी—नाटक के प्रारम्भ में विघ्नों की शांति के लिये देवता, ब्राह्मण, राजा आदि की जो स्तुति की जाती है और दर्शकों को जो आशीर्वाद दिया जाता है उसे नांदी कहते हैं।

९ सूत्रधार—नाटक की सारी व्यवस्था करने वाले मुख्य पात्र को सूत्रधार कहा जाता है।

१० प्रस्तावना—नाटक की कथा प्रारम्भ होने से पहले सूत्रधार की नटी विदूषक (मज़ाक करने वाला) आदि के साथ बातचीत करवा के जो भूमिका बाँधी जाती है उसे प्रस्तावना कहते हैं।

इस के पाँच भेद हैं। १ उद्घात्यक २ कथोद्धत ३ प्रयोगातिशय ४ प्रवर्तक ५ अवगलित। प्रस्तुत नाटक में इस के प्रथम रूप का प्रयोग है।

उद्घात्यक प्रस्तावना—किसी ने किसी दूसरे ही अभिप्राय से कुछ कहा, परन्तु उस वाक्य का दूसरा अर्थ लेकर कार्य आरम्भ करने को उद्घात्यक प्रस्तावना कहते हैं। जैसे चन्द्र सम्बन्धी वाक्य से चन्द्रगुप्त का अर्थ ग्रहण कर चाणक्य रंगभूमि में प्रवेश करता है।

११ अंक—नाटक का उतना भाग जिसके अन्त में मुख्य परदा गिरता है और सब पात्र कुछ देर के लिए चले जाते हैं, अंक कहलाता है।

१२ प्रवेशक—दो अंकों के बीच में, पहले हो चुकी, और आगे होने वाली बातों की छोटे पात्रों द्वारा जिस में सूचना दी जाती है उसे प्रवेशक कहते हैं।

१३ "आपही आप" और "प्रगट"—जहाँ कोष्ठ के भीतर "आप ही आप" लिखा हो वहाँ समझना चाहिए कि इसके आगे का वचन प्रगट नहीं कहा गया, धीरे-धीरे ऐसे कहा गया है जैसे कोई नहीं सुनता। जहाँ कोष्ठ में "प्रगट" लिखा हो वहाँ समझना चाहिए कि आगे का कथन सब को सुनाने के लिए है।

१४ आकाश-भाषित—बिना किसी प्रश्नकर्ता के आप से आप वक्ता ऊपर की ओर देखकर किसी प्रश्न को इस तरह कहता है, मानो वह प्रश्न उस से किया जा रहा है, और फिर उसका उत्तर स्वयं देता है, इस प्रकार कहे हुए प्रश्नोत्तर को "आकाश-भाषित" कहा जाता है। जैसे, इसी नाटक के पृष्ठ ५० पर मदारी के प्रश्न और उत्तर हैं—"तू कौन है?" "महाराज! मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ" इत्यादि।

१५ भरत वाक्य—नाटक के अन्त में नायक द्वारा जो मंगलात्मक प्रार्थना की जाती है उसे भरत वाक्य कहते हैं।

परिशिष्ट—ख

टिप्पणी

प्रस्तावना

पृष्ठ—२५

१. भरित नेह—घन=बादल या बादल की तरह श्याम रंग वाले घनश्याम (श्रीकृष्ण)।

प्रेम रूपी नये जल से भरे हुए, और सदा बहुत अधिक सुन्दर रस बरसाने वाले जिस अपूर्व भगवान् श्रीकृष्ण रूपी बादल को देख कर मेरा मन रूपी मोर नाच उठता है उस की जय हो। छन्द–दोहा। अलंकार—रूपक (मन रूपी मोर, नेह रूपी जल)

२. कौन है सीस पै—सीस=सिर। त्रिपुरारी=(त्रिपुर+अरि, त्रिपुर राक्षस का शत्रु) महादेव। छबारी=छल। गिरिजा=(पर्वतराज हिमालय की लड़की) पार्वती।

कहा जाता है कि पार्वती जी महादेव जी के बाँए आधे भाग में रहती हैं, और गंगा जी तथा चन्द्रमा महादेव जी के मस्तक पर रहते हैं। पार्वती जी महादेव जी के आधे अंग में स्थान पाकर अपने को अत्यधिक भाग्यशालिनी समझती हैं। परन्तु उन्होंने जब गंगा जी को महादेव जी के सिर पर चढ़े देखा तो सौतिया-डाह से पूछा "कौन है सीस पै?" अर्थात् सिर पर यह दूसरी कौन है? महादेव जी चालाकी से गंगा का नाम न लेकर कहते हैं "चन्द्रकला" केवल चन्द्र न कह कर "चन्द्रकला" इसलिए कहा कि वह स्त्रियों का नाम हो जाता है।

पार्वती जी इस पर विश्वास नहीं करतीं और फिर पूछती हैं— "कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी?" अर्थात् हे महादेव! क्या इसका यही नाम है? महादेव जी उत्तर देते हैं—"हाँ, यही नाम

महादेव जी अपनी तपस्या में लगे हुए थे । कामदेव ने उन के शरीर में काम-विकार उत्पन्न करना चाहा । तब क्रुद्ध होकर उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला जिससे कामदेव का शरीर वहीं जल कर राख हो गया।) इस लिए कृपालु भगवान् न तो ज़ोर से पैर पटकते हैं न इधर उधर हाथ चलाते हैं और न अपनी तीसरी आँख खोलते हैं। इस तरह बिना आधार के कष्ट से नाचते हुए महादेव तुम्हारी सब दुःख-बाधाओं को दूर करें। छन्द—मत्तगयन्द सवैया। अलंकार—अधिक—इतने बड़े पृथ्वी रूप आधार से भी शिवजी की शक्ति को बढ़ा कर वर्णन किया गया है । (जहां बड़े आधार तें अधिक होय आधेय)

पृष्ठ—२६

सामन्त—सर्दार, अधीनस्थ राजा।

मुद्राराक्षस—(मुद्रया परिगृहीतः राक्षसः, मुद्राराक्षसः, तदधिकृत्य कृतोग्रन्थः इति मुद्राराक्षसम्) मुद्राराक्षस इस नाटक का नाम इसलिए है कि इस में राक्षस मुद्रा द्वारा वश में लाया गया है।

पृष्ठ—२७

४ उपजै आछे०—अच्छे खेत में मूर्ख के भी धान उग आते हैं। धानों के सघन (घने) होने में किसान के गुणी होने की आवश्यकता नहीं अपितु खेत अच्छा होना चाहिए। छन्द—दोहा। अलंकार—दृष्टान्त।

ढंग जमाऊं=प्रबन्ध करूँ।

५ पीसत कोऊ—स्रवन=कान

कोई सुगन्धित पदार्थ पीस रही है, कोई जल भर कर ला रही है, कोई बैठी हुई रंग बिरंगी मालायें बना रही है, कहीं स्त्रियों की हुंकार के साथ, कानों को अच्छा लगने वाला मूसल का हृदयहारी शब्द हो रहा है। छन्द—रोला। अलंकार—स्वभावोक्ति।

है भूल गई किमि आनन हू तुम प्रानपियारी" हे प्राणप्रियारी इसका यही नाम है, तुम जानते हुए भी कैसे भूल गई। पार्वती जी इतने पर सन्तुष्ट न हो कर फिर कहती हैं—"नारिहिं पूछत चन्दहिं नाहिं" इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) मैं नारी (स्त्री) के बारे में पूछती हूँ चन्द्र के बारे में नहीं, (२) मैं नारी को (से) पूछती हूँ चंद्र से नहीं। पार्वती जी का तात्पर्य पहले अर्थ से था कि मैं नारी के बारे में पूछती हूँ पर महादेव कपट से दूसरा अर्थ लेकर उत्तर देते हैं कि यदि चन्द (सवारी) झूठा है तो विजया (जो स्त्री तुम्हारी सखी है उस) से ही पूछ लो। इस प्रकार गंगा जी को छिपाने के लिए जिस छल-कपट से महादेव जी ने काम लिया वह तुम्हारी सब दुःख बाधाओं को दूर करे।

छन्द—मत्तगयन्द सवैया (७ भगण दो गुरु)। अलंकार—व्याजोक्ति, क्यों कि चन्द्रकला के बहाने से गंगा को छिपाने का यत्न किया गया है। (कछु मिस करि कछु और विधि कहै दुरै के रूप)

कुशल नाटककार नांदी या मंगलपाठ के पदों से नाटक में आगे वर्णन की जाने वाली घटनाओं का कुछ आभास दे देता है। इस छन्द में महादेव जी का छल-कपट दिखा कर नाटककार ने यह प्रकट कर दिया है कि इस नाटक में छल-कपट (कूटनीति) की ही प्रधानता है।

२ पाद प्रहार सों—प्रहार=चोट। तनु=शरीर। नभ=आकाश। सर्व=१ शर्व, महादेव, २ सब। थल=स्थल, आधार।

महादेव जी अपना प्रसिद्ध तांडव नृत्य आरम्भ करना चाहते हैं परन्तु उन्हें डर है कि पैर पटकने से और शरीर के बोझ से कहीं भूमि पाताल में न चली जाय, आकाश में खुल कर हाथ चलाने से तारे इधर उधर टूटकर न गिर पड़ें, तीसरी आँख खोल कर देखने से कहीं लोक न जल जाँय (कहा जाता है कि एक बार

महादेव जी अपनी तपस्या में लगे हुए थे। कामदेव ने उन के शरीर में काम-विकार उत्पन्न करना चाहा। तब क्रुद्ध होकर उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला जिससे कामदेव का शरीर वहीं जल कर राख हो गया।) इस लिए कृपालु भगवान् न तो ज़ोर से पैर पटकते हैं न इधर उधर हाथ चलाते हैं और न अपनी तीसरी आँख खोलते हैं। इस तरह बिना आधार के कष्ट से नाचते हुए महादेव तुम्हारी सब दुःख-बाधाओं को दूर करें। छन्द—मत्तगयन्द सवैया। अलंकार—अधिक—इतने बड़े पृथ्वी रूप आधार से भी शिवजी की शक्ति को बढ़ा कर वर्णन किया गया है। (जहां बड़े आधार तें अधिक होय आधेय)

पृष्ठ—२६

सामन्त—सर्दार, अधीनस्थ राजा।

मुद्राराक्षस—(मुद्रया परिगृहीतः राक्षसः, मुद्राराक्षसः, तदधिकृत्य कृतोग्रन्थः इति मुद्राराक्षसम्) मुद्राराक्षस इस नाटक का नाम इसलिए है कि इस में राक्षस मुद्रा द्वारा वश में लाया गया है।

पृष्ठ—२७

४ उपजै आछे०—अच्छे खेत में मूर्ख के भी धान उग आते हैं। धानों के सघन (घने) होने में किसान के गुणी होने की आवश्यकता नहीं अपितु खेत अच्छा होना चाहिए। छन्द—दोहा। अलंकार—दृष्टान्त।

ढंग जमाऊं=प्रबन्ध करूँ।

५ पीसत कोऊ—स्रवन=कान

कोई सुगन्धित पदार्थ पीस रही है, कोई जल भर कर ला रही है, कोई बैठी हुई रंग बिरंगी मालायें बना रही है, कहीं स्त्रियों की हुंकार के साथ, कानों को अच्छा लगने वाला मूसल का हृदयहारी शब्द हो रहा है। छन्द—रोला। अलंकार—स्वभावोक्ति।

६ री गुनवारी०—इस पद्य के अर्थ स्त्री तथा नीतिविद्या दो तरफ लगते हैं।

(स्त्री पक्ष में) हे गुणवती, सब उपायों (सांसारिक व्यवहारों) को जानने वाली, धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि सब कुछ सिद्ध करने वाली मेरे घर की नीति-विद्या-रूपिणी नटी शीघ्र आओ, देर न करो।

(नीति पक्ष में) गुणवारी—सन्धि विग्रह यान आसन (आगे बढ़ते हुए बीच में अपनी दुर्बलता को दूर करने के लिए रुकना) संश्रय (बलवान् का आश्रय लेना) द्वैधीभाव (शत्रु में फूट डाल देना) इन छः गुणों से युक्त, उपाय की जाननवारी—साम, दाम, दण्ड, भेद—इन उपायों को जानने वाली, घर की राखनहारी—घर अर्थात् राज्य को शत्रु से बचा कर रखने वाली नीति विद्या मुझे शीघ्र प्राप्त हो।

पृष्ठ २८

७ चन्द्रबिंब०—हठ=ज़बरदस्ती। दाप=दर्प, घमण्ड।

क्रूरग्रह केतु चन्द्रमा के अपूर्ण मण्डल को दर्प के साथ ज़बरदस्ती [illegible]सना चाहता है, पर बुधयोग उसकी रक्षा करता है।

चन्द्रग्रहण केवल पूर्णिमा को होता है जब चन्द्रमा पूरा होता है। [illegible]सरी तिथियों में चन्द्रग्रहण नहीं हो सकता। साथ ही केतु चन्द्रमा [illegible] ग्रास नहीं करता, वह सूर्य का ग्रास करता है और राहु चन्द्रमा [illegible] ग्रास करता है। ज्योतिष के अनुसार जिस पूर्णिमा को बुध [illegible]त्र का योग हो उस दिन भी ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी असं[illegible] बातें दिखाकर कवि यह दिखलाता है कि केतु ज़बरदस्ती अस[illegible] में असंभव को संभव करना चाहता है जो नहीं हो सकेगा। [illegible] ही इस दोहे से वह नाटक की अगली कहानी और उसका फल [illegible]लाना चाहता है।

केतु से म्लेच्छराज मलयकेतु का, अपूर्णमण्डल चन्द्र से नये राजा

चन्द्रगुप्त का, और शुभ योग से पण्डित चाणक्य के संयोग का तात्पर्य है। अर्थात् क्रूर और घमण्डी मलयकेतु हठ से नये राजा चन्द्रगुप्त को, जिसका राज्य अभी पूरी तरह स्थिर नहीं हुआ, ग्रसना चाहता है पर चन्द्रगुप्त के साथ बुद्धिमान् चाणक्य का योग होने से ऐसा नहीं हो सकता। अलङ्कार—मुद्रा (मुद्रा प्रस्तुत पदविषे और अर्थ प्रकाश)

पृष्ठ—३२

८. अरे अहै०—कौटिल्य=कुटिल मति वाला चाणक्य। क्रोधानल=क्रोधाग्नि। नृप=राजा।

अरे यह दुष्ट टेढ़ी मतिवाला चाणक्य है जिसने सहज ही में नन्दवंश को अपनी क्रोधाग्नि में जला दिया है। चन्द्रग्रहण का नाम सुनकर उससे चन्द्रगुप्त पर कुछ विपत्ति आती समझ कर इधर ही आ रहा है।

प्रथम अंक

अपनी खुली...चाणक्य आता है—इस वाक्य से मुख सन्धि प्रारम्भ होती है। प्रधान कथा से सम्बन्ध रखने वाली जो दूसरी कथायें होती हैं उन्हें युक्तिपूर्वक एक दूसरी से सम्मिलित कर देने को सन्धि कहते हैं। सन्धियां पांच प्रकार की होती हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। किसी कथा के आरम्भ को मुख सन्धि कहते हैं। उसी के योग से अगली बातों का विस्तार होता है। यहाँ चन्द्रगुप्त की राज्यश्री की स्थिरता के लिए चाणक्य के कहे हुए वाक्य और अचानक *मुद्रा प्राप्त कर राक्षस* को मिलाने के उपायों का पूर्वकथा से सम्बन्ध दिखाना ही मुख सन्धि है।

९. सदा दंति के०—दन्ति=लम्बे दांतवाला, हाथी। कुंभ=गंडस्थल, हाथी के सिर के दोनों ओर के उठे हुए भाग।

जो सदा हाथियों के गंड-स्थलों को फाड़ते हैं, (खून में रंगे रहने के कारण) जो नये चन्द्र के समान लाल हैं और जँभाई लेते समय जो काल के समान निकल आते हैं भला सिंह के उन दाँतों को कौन निकाल सकता है। अर्थात् मेरे रहते चन्द्रगुप्त को कौन हानि पहुँचा सकता है। छन्द=भुजङ्गप्रयात (य चारों भुजंग-प्रयात-प्रणाली) अलङ्कार–रूपकातिशयोक्ति।

१०. काल सर्पिणी०—कालसर्पिणी=जिस सर्पिणी के काटने से मनुष्य उसी समय मर जाता है। क्रोध-धूम=क्रोधरूपी अग्नि से उठती हुई धुएँ की शिखा।

नन्दवंश के लिए काल-सर्पिणी और क्रोध-धूम सी जो मेरी खुली हुई शिखा है उसे अब भी कौन नहीं बाँधने देता। अलङ्कार–रूपक।

११. दहन नन्दकुल०—दहन=जलानेवाला। क्रोधानल=क्रोध-रूपी अग्नि।

नन्दकुलरूपी वन को सहज में जलाने वाली, तथा अत्यन्त प्रचण्ड प्रताप वाली मेरी क्रोधरूपी अग्नि का अब कौन पापी पतंग होना चाहता है। अर्थात् कौन उसमें पड़कर अब नन्दों की तरह राख होना चाहता है। अलंकार–रूपक।

पृष्ठ-२१

१२. दिशि सरिस०—सरिस=समान। कारिख=कालिमा। सचिव=मन्त्री। विटप=वृक्ष। छार=राख। डारि=डालकर। पुरनिवासी=नगर निवासी। भो=हो गई। दहन=जलाना।

चाणक्य अपनी शक्ति का वर्णन करते हुए कहता है—दिशाओं के समान शत्रुओं की स्त्रियों के मुख पर शोकरूपी कालिमा लगाकर तथा नीतिरूपी हवा की सहायता से शत्रु के मन्त्रीरूपी वृक्षों पर राख डाल कर (भाव यह है कि उनकी आँखों में धूल झोंक कर) नगर-

निवासीरूपी पक्षिगण के बिना (जब जंगल में आग लगती है तो पक्षीगण उड़ जाते हैं) राजवंश रूपी बांस को जलाकर और जड़ से नष्ट करके, जलाने के लिए और कोई वस्तु न पाकर मेरी क्रोधाग्नि शान्त होगई है। छन्द–हरिगीतिका (२८ मात्रा, १६ और १२ पर यति अन्त में लघु गुरु) अलंकार–रूपक।

१३. जिन जनन ने०—वनराज = सिंह। विटप = पेड़।

जिन लोगों ने (मेरा अपमान देखते हुए भी) राजा के भय से प्रकट में धिक् नहीं कहा–अर्थात् उसके कार्य की निंदा नहीं की पर मेरे अपमान का दुःख जिनके हृदय में विद्यमान रहा, वे देखें कि हमने कुटुम्ब समेत नंद को उसी प्रकार सिंहासन से गिरा दिया है जैसे सिंह क्रोध करके शिखर (चोटी) से गजराज को गिरा देता है। छन्द—हरिगीतिका। अलंकार—उपमा।

पृष्ठ–३४

१४. नवनन्दन०—नवों नंदों को जड़ समेत क्षण–भर में उखाड़ कर फेंक दिया, और जिस प्रकार तालाब में कमलिनी रहती है उसी प्रकार चन्द्रगुप्त में राज्य-लक्ष्मी स्थापित करदी। क्रोध और प्रीति से एक का नाश करके तथा एक को बसाकर शत्रु और मित्र होने का सबको प्रकट फल दिखला दिया। छन्द–रोला। अलंकार—उपमा और यथासंख्य।

१५. जयलौं रहै०—जब तक राज्य का सुख रहता है तब तक सब सेवा करते हैं, पर राज्य के नष्ट होजाने पर कौन स्वामी है, इसका तनिक भी ध्यान नहीं करते। जो विपत्ति में भी पहिले की मित्रता को निबाहते हुए स्वामी का कार्य करते हैं वे तुम्हारे-जैसे लोग धन्य हैं और इस जगत में निश्चय ही बहुत दुर्लभ है। छन्द–हरिगीतिका।

पृष्ठ–३५

१६. मूरख कातर—स्वामि-भक्त होने पर भी मूर्ख और कातर

जो मद से हाथियों के गंड स्थलों को फाड़ते हैं, (मद में लिप्त होने के कारण) जो नये चन्द्र के समान कान्त हैं और जँभाई लेने पर जो काल के समान निकल आते हैं भला सिंह के उन दाँतों को कौन निकाल सकता है। अर्थात् मेरे रहते चन्द्रगुप्त को कौन हानि पहुँचा सकता है। छन्द=भुजङ्गप्रयात (य चारों भुजंग-प्रयात-छन्दो)। अलङ्कार-अत्यन्तातिशयोक्ति।

१०. काल सर्पिणी०—कालसर्पिणी=जिस सर्पिणी के काटने से मनुष्य उसी समय मर जाता है। क्रोध-धूम=क्रोधरूपी अग्नि से उठती हुई धुएँ की शिखा।

नन्दवंश के लिए काल-सर्पिणी और क्रोध-धूम सी जो मेरी खुली हुई शिखा है उसे अब भी कौन नहीं बाँधने देता। अलङ्कार-रूपक।

११. दहन नन्दकुल०—दहन=जलानेवाला। क्रोधानल=क्रोधरूपी अग्नि।

नन्दकुलरूपी वन को सहज में जलाने वाली, तथा अत्यन्त प्रचण्ड प्रताप वाली मेरी क्रोधरूपी अग्नि का अब कौन पापी पतंग होना चाहता है। अर्थात् कौन उसमें पड़कर नव नन्दों की तरह राख होना चाहता है। अलंकार-रूपक।

पृष्ठ-२३

१२. दिशि सरिस०—सरिस=समान। कारिख=कालिमा। सचिव=मन्त्री। विटप=वृक्ष। छार=राख। डारि=डालकर। पुरनिवासी=नगर निवासी। भो=हो गई। दहन=जलाना।

चाणक्य अपनी शक्ति का वर्णन करते हुए कहता है—दिशाओं के समान शत्रुओं की स्त्रियों के मुख पर शोकरूपी कालिमा लगाकर तथा नीतिरूपी हवा की सहायता से शत्रु के मन्त्रीरूपी वृक्षों पर राख डाल कर (भाव यह है कि उनकी आँखों में धूल झोंक कर) नगर-

निवासीरूपी पक्षिगण के बिना (जब जंगल में आग लगती है तो पक्षीगण उड़ जाते हैं) राजवंश रूपी बांस को जलाकर और जड़ से नष्ट करके, जलाने के लिए और कोई वस्तु न पाकर मेरी क्रोधाग्नि शान्त होगई है। छन्द–हरिगीतिका (२८ मात्रा, १६ और १२ पर यति अन्त में लघु गुरु) अलंकार–रूपक।

१३. जिन जनन ने०—वनराज = सिंह। विटप = पेड़।

जिन लोगों ने (मेरा अपमान देखते हुए भी) राजा के भय से प्रकट में धिक् नहीं कहा–अर्थात् उसके कार्य की निंदा नहीं की पर मेरे अपमान का दुःख जिनके हृदय में विद्यमान रहा, वे देखें कि हमने कुटुम्ब समेत नंद को उसी प्रकार सिंहासन से गिरा दिया है जैसे सिंह क्रोध करके शिखर (चोटी) से गजराज को गिरा देता है। छन्द—हरिगीतिका। अलंकार—उपमा।

पृष्ठ–३४

१४. नवनन्दन०—नवों नंदों को जड़ समेत क्षण-भर में उखाड़ कर फेंक दिया, और जिस प्रकार तालाब में कमलिनी रहती है उसी प्रकार चन्द्रगुप्त में राज्य-लक्ष्मी स्थापित करदी। क्रोध और प्रीति से एक का नाश करके तथा एक को बनाकर शत्रु और मित्र होने का सबको प्रकट फल दिखला दिया। छन्द–रोला। अलंकार—उपमा और यथासंख्य।

१५. जबलौं रहै०—जब तक राज्य का सुख रहता है तब तक सब सेवा करते हैं, पर राज्य के नष्ट होजाने पर कौन स्वामी है, इसका तनिक भी ध्यान नहीं करते। जो विपत्ति में भी पहिले की मित्रता को निबाहते हुए स्वामी का कार्य करते हैं वे तुम्हारे-जैसे लोग धन्य हैं और इस जगत में निश्चय ही बहुत दुर्लभ हैं। छन्द–हरिगीतिका।

पृष्ठ–३५

१६. मूरख कातर—स्वामि-भक्त होने पर भी मूर्ख और कातर

पृष्ठ–४०

प्रतिहारी=प्राचीन राजाओं के यहाँ दरवाजे पर रहने वाली स्त्री को प्रतिहारी कहते हैं।

शोणोत्तरा—प्रतिहारी का नाम है।

पृष्ठ–४१

२१. प्रथम चित्रवर्मा०—हय-जुत=घोड़ोंवाला। चित्रगुप्त=यमराज का मुंशी।

पहला कुलूत का राजा चित्रवर्मा, दूसरा मलयदेश का राजा बलवान् सिंहनाद, तीसरा काश्मीर देश का राजा पुष्कर नयन, चौथा भयंकर बेशवाला सिंधुसेन और पांचवां बहुत घोड़ों वाला पारस का राजा मेघाक्ष, इन सब का नाम चित्रगुप्त अपने रजिस्टर में से काट दें क्योंकि जब हमने इनको मरा हुआ लिख दिया है तो अब इन को कोई भी नहीं बचा सकता।

पृष्ठ–४६

छल का विचार नहीं होता—छल को अवसर नहीं मिलता, छल से काम नहीं चलता।

साँप सो सिर पर बूटी पहाड़ पर—जिस प्रकार जब सांप सिर पर बैठा हुआ काटना चाहता हो उस समय पहाड़ पर की बूटी की आशा करना व्यर्थ होता है ऐसे ही अब जब कि राजद्रोह का दण्ड तुम पर गिरा चाहता है ऐसे समय राक्षस आदि दूरवर्ती मित्रों की सहायता की आशा करना व्यर्थ है।

२२. पिया दूर०—वर्षाकाल है बादल गरज रहे हैं पर प्रिया पास नहीं है इससे विरह का अतिघोर दुःख है। ऐसे समय उसका होना न होना बराबर है। ऐसे ही सिर पर कठोर सर्प है और उसकी दवाई दूर हिमालय पर है जिससे कुछ लाभ नहीं। अलङ्कार—अप्रस्तुत प्रशंसा और दृष्टान्त।

२३. नृपनंद०—महाराज नंद के जीते हुए नीतिज्ञ वक्रनासादिक मंत्री भी जिस लक्ष्मी को स्थिर न रख सके वह लक्ष्मी अब चन्द्रगुप्त से आ लिपटी है सो जिस तरह चन्द्र से चाँदनी अलग नहीं की जा सकती वैसी ही इस राज्य-लक्ष्मी को अब उससे दूर कौन कर सकता है। छन्द–हरिगीतिका। अलंकार–अर्थान्तरन्यास।

पृष्ठ–४८

२४. दूजे के हित०—दूसरे के हित प्राण देकर धर्म का प्रतिपालन करे ऐसा शिवि के समान इस समय दूसरा कौन है? पुराणों में कथा आती है कि राजा शिवि ने इन्द्र-पद पाने के लिए यज्ञ प्रारम्भ किया। जब वे बानवे यज्ञ कर चुके तब ईर्ष्यावश इंद्र ने उसमें विघ्न डालने के लिए अग्नि को कबूतर बनाया और आप बाज बना। दोनों इसी रूप में यज्ञशाला में पहुँचे। कबूतर राजा की गोद में जा पड़ा। बाज ने राजा से अपना शिकार माँगा; पर राजा ने उसे देने से इन्कार कर उसके स्थान में अपने शरीर से उतने ही तोल का मांस देने का वचन दिया। तराजू पर तोलते समय शरीर का कुल मांस धरा देने पर भी जब कबूतर का पलड़ा भारी रहा तब राजा ने अपना सिर काटना चाहा। इसी समय भगवान् ने प्रकट होकर उन्हें स्वर्गलोक भेज दिया। अलंकार–उदात्त।

२५. जिमि इन०—जैसे इसने तृण के समान अपने प्राण देकर मित्र की रक्षा की है, इसी तरह वह (राक्षस) भी अपने प्राण देकर (सब-कुछ न्यौछावर करके) अपने मित्र और कुल की रक्षा करेगा।

पृष्ठ–४९

२६. जे यात कछु—सत=सौ। सतनहारी=तोड़ने वाली। जो लोग अपने हृदय में कुछ ठान कर भागे हैं वे सुख से भाग जायँ और जो हैं वे भी चाहे चले जायँ, उनकी भी मुझे कुछ

चिन्ता नहीं। केवल मेरी एक बुद्धि ही मेरे पास रहे जो कि सौ सेनाओं से भी अधिक काम करने वाली है और नन्द कुल को जड़ से खोदने वाली है। (वास्तव में भागुरायण भद्रभट आदि सब चाणक्य की सलाह से ही भागे थे और मलयकेतु से जा मिले थे। वहाँ उन्होंने धीरे धीरे मलयकेतु का अपने ऊपर विश्वास बढ़ाकर राक्षस और मलयकेतु में भेद उत्पन्न कराया।

पृष्ठ–५०

२०. एकाकी मद०—मद-गलित=अभिमान भ्रष्ट या जिसका मद चू रहा हो। झुण्ड से बिछुड़े हुए अकेले मद चूते हुए मत्त हाथी को जिस तरह लोग बाँध लाते हैं उसी तरह हम तुम्हें (राक्षस को) अकेला करके और अभिमान भ्रष्ट करके पकड़कर चन्द्रगुप्त के काम में लावेंगे। अलंकार–श्लेषयुक्त उपमा।

इस प्रकार यहाँ तक प्रतिमुख संधि हैं। मुख संधि में दिखाये गये बीज (कथा भाग के मुख्य हेतु) का निदर्शन जिसमें कुछ कुछ प्रकट रीति और कुछ कुछ अप्रकट रीति से किया जाता है उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं। चाणक्य की नीति (शकटदास से पत्र लिखवाना सिद्धार्थक को वह पत्र देकर भेजना और चंदनदास को पकड़ रखना) रूपी बीज का कुछ थोड़ा थोड़ा आभास यहाँ तक मिल जाता है।

द्वितीय अंक

प्रथम अंक में चाणक्य की कूट नीति और दृढ़ आत्म-विश्वास आदि का कुछ परिचय देकर नाटककार द्वितीय अंक में उसके प्रतिद्वन्द्वी राक्षस की नीति, उसके असफल प्रयत्नों और अटल स्वामि-भक्ति का कुछ दिग्दर्शन कराता है।

२८. तन्त्र युक्ति०—इस दोहे के अर्थ राजा और साँप दो तरफ़ लगते हैं।

२३. नृपनंद०—महाराज नंद के जीते हुए नीतिज्ञ सकलमतिक मंत्री भी जिस लक्ष्मी को स्थिर न रख सके वह लक्ष्मी अब चन्द्रगुप्त में आ स्थिरी है सो जिस तरह चन्द्र से चाँदनी अलग नहीं की जा सकती वैसी ही इस राज-लक्ष्मी को अब उससे दूर कौन कर सकता है। छन्द–हरिगीतिका। अलंकार–अर्थान्तरन्यास।

पृष्ठ–४८

२४. दूजे के हित०—दूसरे के हित प्राण देकर धर्म का प्रतिपालन करे ऐसा शिवि के समान इस समय दूसरा कौन है? पुराणों में कथा आती है कि राजा शिवि ने इन्द्र-पद पाने के लिए यज्ञ प्रारम्भ किया। जब वे सानवे यज्ञ कर चुके तब ईर्षावश इंद्र ने उसमें विघ्न डालने के लिए अग्नि को कबूतर बनाया और आप बाज बना। दोनों इसी रूप में यज्ञशाला में पहुँचे। कबूतर राजा की गोद में जा पड़ा। बाज ने राजा से अपना शिकार माँगा; पर राजा ने उसे देने से इन्कार कर उसके स्थान में अपने शरीर से उतने ही तोल का मांस देने का वचन दिया। तराजू पर तोलते समय शरीर का कुल मांस चढ़ा देने पर भी जब कबूतर का पलड़ा भारी रहा तब राजा ने अपना सिर काटना चाहा। इसी समय भगवान् ने प्रकट होकर उन्हें स्वर्गलोक भेज दिया। अलंकार–उदात्त।

२५. जिमि इन०—जैसे इसने तृण के समान अपने प्राण देकर मित्र की रक्षा की है, इसी तरह वह (राक्षस) भी अपने प्राण देकर (सब-कुछ न्यौछावर करके) अपने मित्र और कुल की रक्षा करेगा।

पृष्ठ–४९

२६. जे यात कछु—सत=सौ। खननहारी=खोदने वाली। जो लोग अपने हृदय में कुछ ठान कर भागे हैं वे सुख से भाग जायँ और जो हैं वे भी चाहे चले जायँ, उनकी भी मुझे कुछ

चिन्ता नहीं। केवल मेरी एक बुद्धि ही मेरे पास रहे जो कि सौ सेनाओं से भी अधिक काम करने वाली है और नन्द कुल को जड़ से खोदने वाली है। (वास्तव में भागुरायण भद्रभट आदि सब चाणक्य की सलाह से ही भागे थे और मलयकेतु से जा मिले थे। वहाँ उन्होंने धीरे धीरे मलयकेतु का अपने ऊपर विश्वास बढ़ाकर राक्षस और मलयकेतु में भेद उत्पन्न कराया।

पृष्ठ–५०

२०. एकाकी मद०—मद-गलित = अभिमान भ्रष्ट या जिसका मद चू रहा हो। झुण्ड से बिछुड़े हुए अकेले मद चूते हुए मस्त हाथी को जिस तरह लोग बाँध लाते हैं उसी तरह हम तुम्हें (राक्षस को) अकेला करके और अभिमान भ्रष्ट करके पकड़कर चन्द्रगुप्त के काम में लावेंगे। अलंकार–श्लेषयुक्त उपमा।

इस प्रकार यहाँ तक प्रतिमुख संधि है। मुख संधि में दिखाये गये बीज (कथा भाग के मुख्य हेतु) का निदर्शन जिसमें कुछ कुछ प्रकट रीति और कुछ कुछ अप्रकट रीति से किया जाता है उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं। चाणक्य की नीति (शकटदास से पत्र लिखवाना सिद्धार्थक को वह पत्र देकर भेजना और चंदनदास को पकड़ रखना) रूपी बीज का कुछ थोड़ा थोड़ा आभास यहाँ तक मिल जाता है।

द्वितीय अंक

प्रथम अंक में चाणक्य की कूट नीति और दृढ़ आत्म-विश्वास आदि का कुछ परिचय देकर नाटककार द्वितीय अंक में उसके प्रतिद्वन्द्वी राक्षस की नीति, उसके असफल प्रयत्नों और अटल स्वामि-भक्ति का कुछ दिग्दर्शन कराता है।

२८. तन्त्र युक्ति०—इस दोहे के अर्थ राजा और साँप दो तरफ लगते हैं।

तन्त्र=१ राज-धर्म, २ विष की औषध। युक्ति=१ न्याय, २ प्रयोग मंडल=१ राष्ट्र या द्वादश राजचक्र (अर्थात् यह मित्र है यह शत्रु है यह शत्रु का मित्र है, यह उदासीन है इस प्रकार का), २ माहेन्द्रादि देवताओं का यन्त्र या मंडलाकार घेरा। मन्त्र=१ मन्त्रणा, २ गरुड़ादि मन्त्र। उपचार—१ सेवा २ क्रीड़ा।

जो तन्त्र युक्ति (राजधर्म और न्याय, सांप पक्ष में—औषध के प्रयोग) जानते हैं, और विचार कर मण्डल (राष्ट्र मंडल, सांप पक्ष में—माहेन्द्रादि यन्त्र) रचते हैं तथा जो गुप्त मन्त्रणाओं की रक्षा कर सकते हैं; सांप पक्ष में—जो गरुड़ादि देवताओं से अपनी रक्षा कर सकते हैं वे सांप रूप राजा से उपचार (व्यवहार) कर सकते हैं। अलंकार—श्लेष युक्त रूपक।

पृष्ठ—५३

२९. चाणक्य ने लै०—मौर्य मुरादासी का पुत्र चन्द्रगुप्त।

चाणक्य ने यद्यपि अपनी बुद्धिरूपी डोर से बांध कर और नीति के ज़ोर से राज्यलक्ष्मी चन्द्रगुप्त में स्थिर कर दी है पर तो भी राक्षस चतुराई करके उस राज्यलक्ष्मी को अपने हाथ में करने का यत्न करता है और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसे पकड़ कर अपनी ओर खींच रहा है। अलंकार—रूपक। छन्द—हरिगीतिका।

३०. दोऊ सचिव०—चाणक्य और राक्षस इन दोनों मन्त्रियों के विरोध (झगड़े) में राज्यलक्ष्मी इस प्रकार अस्थिर हुई हुई इधर उधर झोंके खा रही है जैसे दो बड़े बड़े हाथियों के (झगड़े के) बीच में हथिनी कभी इधर जाती है कभी उधर जाती है। अलंकार-उपमा।

पृष्ठ—५४

३१. गुप्त नीति चलमों०—जिस प्रकार चतुर लोग गुप्त नीति आदि से शत्रुओं को जीत कर अन्त में आराम से [illegible]

गये थे इसी प्रकार नंद का यह वृहत् कुल भी भाग्य के विपरीत होने के कारण नष्ट हो गया है; इसी चिन्ता में मुझे रात और दिन जागते ही बीतते हैं। मेरे भाग्य के इन विचित्र चित्रों को देखो जो बिना दीवार (आधार) के हैं। अर्थात् नन्दकुल-रूपी आधार तो नष्ट हो ही चुका है अब चन्द्रगुप्त को मारने की जो मैं व्यर्थ कल्पनाएँ करता हूँ वे बिना आधार की ही हैं। अलंकार—उपमा और विशेष, क्योंकि चित्र बिना भीत के हैं—आधेय बिना आधार है। छन्द—हरिगीतिका।

३२. बिनु भक्ति०—स्वामि-भक्ति को बिना भूले (अर्थात् याद करके ही) बिना स्वार्थ के मैंने यह (चन्द्रगुप्त को मारने का) प्रण किया है। प्राणों का भय छोड़कर बिना किसी प्रतिष्ठा पाने की इच्छा के ही मैंने अब तक सब कुछ किया है। अन्य सब कार्य छोड़कर परदासता (दूसरे अर्थात् मलयकेतु की नौकरी) भी मैं इसीलिए कर रहा हूँ कि जिससे स्वर्ग में भी मेरा स्वामी अपने शत्रुओं को मरा हुआ देखकर सुख पाये। अलंकार—परिसंख्या। छन्द—हरिगीतिका।

३३. निज तुच्छ०—सुधा = अमृत। व्याल = साँप।

अपने तुच्छ सुख के लिए गुणों की खान नंद राजा को छोड़कर तू दुष्ट में अनुरक्त हो गई है मानो सुधा साँप से लिपट गई हो। जैसे मस्त हाथी के मरते ही मद की धारा उसके साथ ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार तू नंद के साथ ही क्यों न नष्ट हो गई? हे निर्लज्जे! अब भी तू संसार में जीवित है। अलंकार—उपमा। छन्द—हरिगीतिका।

३४. का जग में—नीच गामिनी = अपने कुल से नीच कुल में सम्बन्ध करनेवाली।

क्या संसार में और कोई कुलीन राजा नहीं रहा था जो तू

नीच गामिनी होकर शूद्र से जा लिपटी है।

३५. वारवधू जन०—वार वधू=वेश्या। ओछा=नीच।

वेश्याओं की प्रकृति स्वभावतः ही चपल होती है वे कुलीन गुणियों को छोड़कर नीच मनुष्यों से प्रेम करती हैं।

पृष्ठ—५३

"...जीवसिद्धि इत्यादि सुहृद नियुक्त ही हैं"—राक्षस की कमज़ोरी इसीसे पता लग जाती है कि जीवसिद्धि जो चाणक्य का गुप्तचर है उसे वह अन्त तक अपना मित्र समझता है।

३६. विषवृक्ष०—अहिसुत=साँप का बच्चा। सिंहपोत=सिंह का बच्चा। असु=प्राण।

विष-वृक्ष, साँप के बच्चे और सिंह के बच्चे के समान दुखदायी जिस चन्द्रगुप्त को अपने पुत्र के समान पाल कर नंद ने अपने प्राण गँवाये उस चन्द्रगुप्त को मेरे बुद्धिरूपी तीर तुरन्त ही मार कर गिरा देंगे यदि दुष्ट दैव कवच बनकर उसकी रक्षा न करे। अलंकार—उपमा और रूपक। छन्द—हरिगीतिका।

कंचुकी—अन्तःपुर का द्वार रक्षक।

३७. नृप नंद०—जर=जरा, बुढ़ापा। पुर=नगर यहाँ कुसुमपुर से तात्पर्य है। जरजर=नष्ट।

वृद्धावस्था में मनुष्य शरीर में काम लालसा कम और धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होजाती है। कंचुकी अपनी शारीरिक अवस्था और नाटक की घटना में समता दिखाता हुआ कहता है—

जिस प्रकार चाणक्य की नीति द्वारा नृप नन्द जरजर (नष्ट) हो गया उसी प्रकार जरा (बुढ़ापे) के कारण मेरे शरीर से काम लालसा नष्ट हो गई है। फिर चन्द्रगुप्त ने जैसे क्रम से बढ़ कर कुसुमपुर पर अधिकार कर लिया है वैसे ही धर्म ने मेरे शरीर पर अधिकार कर लिया है। जैसे अवसर पाकर राक्षस चन्द्रगुप्त को

जीतने का यत्न करता है वैसे ही लोभ धर्म को जीतने जाता है परन्तु शिथिल-बल हुआ हुआ किसी प्रकार भी जय नहीं पा सकता। अलंकार—उपमा और रूपक। छन्द—हरिगीतिका।

पृष्ठ–५४

३८. इन दुष्ट०—हे कुँवर, जब तक तुम को राज्य देकर तुम्हारे सिर पर अचल छत्र नहीं डुलाऊँगा, और जब तक सब शत्रुओं को नष्ट करके पाटलिपुत्र को फिर नहीं बसा लूँगा तब तक इन शत्रुओं से दुखी मैं अपने शरीर को नहीं सँभालूँगा। छन्द—हरिगीतिका।

पृष्ठ–५५

३९. सकल कुसुम०—रसिक शिरोमणि भौंरा सब फूलों का रस चूस कर जो शहद देता है, उससे संसार के सब काम होते हैं। कुसुम का साधारण अर्थ फूल है, पर यहाँ साथ ही यह अर्थ भी व्यञ्जित होता है कि कुसुमपुर के रहस्यों का जो वृत्तांत मैं बताऊँगा उससे तुम्हारा बहुत काम निकलेगा। अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा। छन्द—दोहा।

पृष्ठ–५६

४०. लै बाम बाहु०—चन्द्रगुप्त का यद्यपि राज्याभिषेक हो गया है पर राक्षस के विद्रोही होने के कारण उसकी राज्यलक्ष्मी अभी स्थिर नहीं हुई; अभी तक उसके नष्ट होने का संदेह बना ही है। विराधगुप्त कहता है कि राक्षस के डर के मारे अभी राज्यलक्ष्मी उसे निश्चिन्त होकर आलिङ्गन नहीं करती—

राज्यलक्ष्मी अपनी बाईं भुजा को चन्द्रगुप्त के गले में डालती है परन्तु वह खिसक कर गिर पड़ती है; उसी प्रकार दाहिनी भुजा को भी गले में डालती है (क्योंकि दोनों भुजाओं से ही पूरी तौर से आलिंगन हो सकता है) परन्तु वह भी गोद में बिचल कर गिर पड़ती है। जिस की बुद्धि के डर से शंकित हो कर लक्ष्मी आज

जो अनेक घोड़े हैं उनका भी प्रबंध ठीक रक्खो। यह पैदल सेना भी तुम्हारे ही भरोसे है इनका प्रबन्ध भी चित्त लगाकर करो।" इस प्रकार कहते हुए, हे महाराज नंद तुम मुझ एक को अपने कार्य के लिए कई हज़ार आदमियों के समान मानते थे। अलंकार—रूपक (गजमेघ में)। छन्द—अरसात सवैया (७ भगण+१ रगण)

४३. जो विषमयी०—जो विषकन्या चन्द्रगुप्त को मारने के लिए रक्खी थी चाणक्य की चतुराई से उससे उल्टा बेचारा पर्वतक मारा गया। जैसे कर्ण ने अर्जुन को मारने के लिए अमोघ शक्ति छिपा कर रक्खी हुई थी परन्तु कृष्ण की चालाकी से वह घटोत्कच पर गिरी थी। अलंकार-विषम (और भलो उद्यम किये होत बुरो फल आप) तथा उपमा। छन्द—हरिगीतिका।

पृष्ठ—६२

कन्या जो विष०—उसे (चन्द्रगुप्त को मारने के लिए जो विष कन्या भेजी गई थी उससे उल्टा पर्वतक मारा गया जिस का आधा राज्य था (आधे राज्य पर अधिकार था)। जो लोग उसके मारने के लिए भेजे गये थे वे सब स्वयं ही कलबल (यन्त्र आदि) सहित नष्ट हो गये। मेरी नीति उल्टा मौर्य को ही फल देती है। अलंकार—विषम। छन्द—रोला।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि राक्षस सब जगह अपनी असफलता पर भाग्य को ही कोसता है पर वास्तव में असफलता का कारण उसके चरों की असावधानी और चाणक्य की सतर्कता है।

४५. प्रारम्भ ही०—नीच लोग विघ्नों के भय से उद्यम आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम लोग कार्य आरम्भ तो कर देते हैं पर किसी विघ्न के आने पर उसे बीच में ही छोड़ देते हैं। परन्तु जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे विघ्नों पर लात रखकर अर्थात् उनकी कुछ परवाह न कर निरन्तर उद्यम करते हुए अन्त तक काम को पूरा निभाते हैं।

वह भी इन्हीं आँखों से देखी थी। इतना होने पर भी पता नहीं कि प्राण इस शरीर से क्यों नहीं निकले। अलंकार—उत्प्रेक्षा। छन्द—दुर्मिल सवैया [८ सगण]

५०. नन्द गये हू०—राजा नन्द के परलोक चले जाने पर भी जिन्होंने प्रभु सेवा को नहीं छोड़ा, भूमि पर बैठे हुए वे मानो स्वामिभक्ति की मर्यादा को प्रकट कर रहे हैं। अलंकार—विभावना [बिना हेतु के कार्य होने के कारण]

पृष्ठ–६८

५१. चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त अपने तेज के बल से सब पर राज्य करता है और चाणक्य समझता है कि यह सब कुछ मेरा ही दिया हुआ है। [राज्यप्राप्ति और प्रतिज्ञा-पूर्ण करने तक दोनों का मार्ग एक ही था इसलिए वे मिले हुए थे] अब वे दोनों अपना अपना कार्य कर चुके हैं अब यदि आपस में लड़ें तो आश्चर्य कौन-सा है ?

नाटक के द्वितीयांक में गर्भ सन्धि समझनी चाहिए। प्रतिमुख सन्धि में प्रकाशित हुए बीज का किसी कारण से लोप सा होजाना परन्तु फिर उसे ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न होना गर्भ सन्धि का लक्षण है।

"चाणक्य ने लै जदपि बाँधी बुद्धि रूपी डोर सों"
"पै तदपि राक्षस चातुरी करि हाथ में ताको करै
गहि ताहि खींचत आपनी दिसि मोहि यह जानी परै ॥"
"हथिनी सी लक्ष्मी विचल इत उत झोंका खाय"
"जा बुद्धि के डर होइ संकित नृप हृदय कुच नहिं धरै
अजहूँ न लक्ष्मी चन्द्रगुप्तहिं गाढ़ आलिंगन करै ॥"

इत्यादि पंक्तियों से प्रथम अंक के अन्त में प्रकट हुआ चाणक्य नीति रूपी बीज कुछ लुप्त-सा हो जाता है, उसकी सफलता में संदेह होने लगता है। यहीं से गर्भ सन्धि प्रारम्भ होती है। पीछे विराध-

गुप्त के लम्बे वृत्तान्त से यह संदेह बहुत कुछ दूर हो जाता है औ चाणक्य की सफलता की फिर आशा हो जाती है यही गर्भ सन्धि है

तृतीय अङ्क

यहाँ से विमर्श सन्धि आरम्भ होती है। अगले दोनों (तीसरे चौथे) अङ्कों में विमर्श सन्धि है। वस्तु का बीज विस्तृत होने पर जब उसके पूर्ण होने में शाप अथवा भय आदिक विघ्न आते हैं तब विमर्श सन्धि होती है। चाणक्य के नीति रूपी बीज की सफलता के बहुत कुछ लक्षण दिखाई देने पर भी चाणक्य और चन्द्रगुप्त का कौमुदी महोत्सव हो या न हो इस विषय को लेकर झगड़ा हो जाता है और यह उनकी सफलता में विघ्न आजाता है। यही विमर्श सन्धि है। तृतीय अङ्क में यह झगड़ा होता है और चतुर्थ अङ्क में करभक इसी वृत्तान्त को जाकर राक्षस को सुनाता है। इस लिए इन दोनों अङ्कों में विमर्श सन्धि है।

५२. हे रूप आदि०—युवावस्था में जो रूप रस गन्ध स्पर्श आदि विषय हृदय में बड़े लोभ से सँभाल कर रक्खे थे वे सब बुढ़ापे में आँख कान नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों के शिथिल हो जाने के साथ ही नष्ट हो गये। हाथ पैर इत्यादि सब अङ्ग (कर्मेन्द्रियाँ) भी ढीले हो गये हैं और अब वे कहा नहीं मानते, हे तृष्णे तू मुझ बूढ़े का अब भी (जब कि इन्द्रियाँ शिथिल होगई हैं और रूप रस इत्यादि विषय की शक्ति क्षीण हो गई है) पीछा क्यों नहीं छोड़ती! अलंकार—विभावना। छन्द—हरिगीतिका।

पृष्ठ-६१

मगोग प्रमाद=मदक का नाम। सुगांगप्रासाद के कोन अर्थात् में नियुक्त नौकर चाकरगण।

महोत्सव=शरद् ऋतु की पूर्णिमा के दिन होने वाला उत्सव

५३. बहु फूल की माल०—छपा=रात । सिंहासन= १ राजतख्त २ सिंह+आसन=सिंह की गोद । चारु=सुन्दर । धरा=पृथिवी । धेनु=गाय ।

खम्भों पर बहुत से फूलों की माला लपेटो और उनके चारों ओर धूप इत्यादि सुगंधित पदार्थ जलाओ । इसके साथही उन खंभों पर चाँदनी रात की तरह सुशोभित सफ़ेद घने चँवर लटकाओ । तथा सिंह की गोद में पड़ी हुई गाय के समान जो पृथिवी राज्यसिंहासन के भार से व्याकुल हो गई है उस पर चंदन से मिला हुआ गुलाब जल छिड़क कर उसे होश में लाओ—भाव यह है कि पृथिवी को सुगंधित जलके छिड़काव से शीतल करो । अलंकार—'चंद छपासे' में उपमा, सिंहासन में श्लेष और तीसरी सारी पंक्ति में उत्प्रेक्षा । छंद—सवैया ।

५४. बहु दिन श्रम०—राज-धुर=राज्य की धुरा (जुआ) राज्य भार । बहुरि=फिर ।

बहुत दिन का अनुभव प्राप्त करके महाराज नंद ने जिस राज्य भार को उठाया था चन्द्रगुप्त ने उसे बचपन में ही अपने सिर पर ले लिया है । दृढ़-प्रतिज्ञ और दृढ़-शरीर होने के कारण (राजनीति के) टेढ़े और दुर्गम रास्ते में भी फिसलता नहीं है । (छोटी अवस्था और कम अनुभव होने के कारण) यदि कहीं फिसलने भी लगता है तो फिर सँभल जाता है, घबराता ज़रा भी नहीं । अलंकार—समासोक्ति ।

५६-५६. जो दूजे को०—जो राजा दूसरे का हित करने में लगा रहे वह अपना काम गँवा बैठता है । जब अपना ही काम पूरा न हुआ तो राज्य किस काम का । जो दूसरे के ही हित में लग रहे वह पराधीन और मूढ़ है उस मूर्ख को कठपुतली के समान स्वाद (आनन्द) कभी नहीं मिलता । छन्द—दोहा ।

पृष्ठ—७०

५७. क्रूर मदा०—सहज = स्वभाव से। बारनारी = वेश्या। चंचल स्वभाव वाली लक्ष्मी स्वामी को सदा मूर्ख कहती है। मनुष्य के गुण अवगुण को वह नहीं देखती, सज्जन और दुष्ट—सब को एक जैसा समझती है। शूरवीर से डरती है और भीरु (डरपोक) को कुछ गिनती ही नहीं, बताओ वेश्या और लक्ष्मी को किसने वशमें किया है!

५८. जब लौं बिगारै०—जब तक शिष्य कार्य नहीं बिगाड़ता तब तक गुरु उसे कुछ नहीं कहता पर शिष्य बुरे रास्ते पर जाने लगे तो गुरु उसके सिर पर अंकुश के समान होजाता है। अर्थात् उस को कार्य से रोकता है। इसलिए गुरु के वाक्य के वशवर्ती होने के कारण हम सदा ही पराधीन हैं। निर्लोभ गुरु के समान सन्तजन ही जगत् में स्वाधीन हैं। छन्द—हरिगीतिका।

५९ से ६२ तक. सरद बिमल—निशानाथ = चन्द्रमा। उडगन= तारे।

विमल शरद् ऋतु शोभित हो रही है। आकाश स्वच्छ और नीला है, सोलह कला युक्त पूर्ण चन्द्रमा उदित है। सुन्दर चमेली के फूलों की सुगंध फैल रही है। नदी के किनारे सफेद सफेद बहुत से कास के फूल खिले हैं। कमल और कुमुदिनी तालाबों में खिले हुए शोभा पा रहे हैं। जिन पर गूँज-गूँज कर भौंरों के झुण्ड रस ले रहे हैं। चाँदनी ही कपड़े हैं, चन्द्रमा ही मुख है, तारागण मोतियों की माला के समान हैं, कास फूल ही मधुर मुसकान है, यह शरद् ऋतु है या कोई नवयुवती है। अलंकार—संदेह।

पृष्ठ—७१

६३–६४. गज रथ०—हाथी रथ तथा घोड़े सजे नहीं हैं और न बाज़ारों में कहीं बंदनवार बँधी है। कहीं वितान (शामियाने) भी नहीं लगाये गये, और न घरों के दरवाज़े ही रँगे गये हैं। फूलों की

माला पहनकर न कहीं स्त्री-पुरुष घूम रहे हैं, और न नाच-गान की ध्वनि ही कानों में सुनाई देती है। अलंकार—स्वभावोक्ति।

पृष्ठ–७२

६५ से ६७. जिमि हम॰—जिस तरह हम ने राजा द्वारा किये गये अपमान से क्रोधित होकर नंद के नाश की प्रतिज्ञा की, तथा नंद को पुत्रों समेत मार कर उसे पूर्ण भी किया साथ ही राक्षस का घमंड तोड़ कर चन्द्रगुप्त को राजा बनाया; इसी तरह वह राक्षस भी चन्द्रगुप्त को मार कर मुझे नीति के बल से छलना चाहता है। परन्तु मेरे रहते उस का यह प्रयत्न अति तुच्छ और व्यर्थ है।

६८–६९. जिमि हम॰—जिस तरह मुझ चाणक्य ने नगर (कुसुम पुर) में आकर दुष्ट सर्प की तरह काम किया अर्थात् नंद को मार कर वृषल (चन्द्रगुप्त) को राजा बनाया; उसी तरह वह भी राजा चन्द्रगुप्त का बिगाड़ करना चाहता है, अपनी क्षुद्र बुद्धि से मेरे बल और बुद्धि के पहाड़ को लाँघना चाहता है। अलंकार—उपमा।

७०–७१. राज काज॰—चतुर मन्त्री बिना अभिमान के राज कार्य करता है और जैसा तुम्हारा राजा नन्द (अयोग्य) था चन्द्रगुप्त वैसा नहीं है। और तुम (राक्षस) भी कोई चाणक्य नहीं हो जो कठिन कार्य को कर सको। इसलिए हम से बैर करके तुम राज्य नहीं पा सकते। अलंकार—परिकर, क्यों कि चतुर और बिना अभिमान आदि विशेषण साभिप्राय हैं।

पृष्ठ–७३

७२. मम भागुरायण॰—मेरे भागुरायण आदि नौकरों ने मलयकेतु को घेर रक्खा है, वैसे ही सिद्धार्थक आदि चर भी गये हैं, वे भी अपना काम पूरा कर के ही लौटेंगे। अब देखो राजा चन्द्रगुप्त से छल-कलह करके और भेद नीति का उपाय करके हम उल्टा मलयकेतु से राक्षस का बिगाड़ करा देंगे। अर्थात् जिस भेद नीति

का आश्रय लेकर राक्षस से और चन्द्रगुप्त के बीच में विग्रह करवाना चाहता है उसी भेद नीति के द्वारा हम उल्टा राक्षस की मलयकेतु से लड़ाई करवा देंगे। छन्द—हरिगीतिका।

७३. मुहगों०—राजा से, मन्त्री से और सब दरबारियों से डरते रहना होता है। फिर राजा के आस-पास के खुशामदियों का कहना मानना होता है। रात-दिन उनका मुख देखते ही बीतता है और प्राणों का सदा डर लगा रहता है। इसलिए अपना पेट भरने के लिए की गई नौकरी कुत्तों की वृत्ति के समान है। अलंकार—काव्यलिंग और उपमा। छन्द—हरिगीतिका।

७४. कहुँ परे गोमय०—कहीं सूखे उपले पड़े हैं, और कहीं सिला पड़ी हैं। कहीं तिल और कहीं विद्यार्थियों द्वारा भिक्षा में लाये गये धान पड़े हैं। कहीं कुशा पड़ी हुई हैं, और कहीं (छप्पर पर) हवन की लकड़ियाँ सूख रही हैं, जिन के भार से पुराना छप्पर किस बुरी तरह झुक गया है। अलंकार—स्वभावोक्ति। छन्द—हरिगीतिका।

७५. बिन गुनहूँ०—लालची गुरुजन धन के लालच से निर्गुण राजा के पास जाकर झूठ-मूठ ही उनमें बहुत गुण बताकर उनकी प्रशंसा करते हैं। किन्तु जिन निस्पृह व्यक्तियों को धन का लालच नहीं है वे चापलूस के समान नहीं होते, उनसे धनिक जन तिनके के समान तनिक भी मान नहीं पाते। अलंकार—उपमा। छन्द—दोहा।

७६. लोक धरसि०—सब लोगों को नीचा दिखा कर और नंद को गिरा कर चन्द्रगुप्त को उसी तरह राजा बना दिया है जिस तरह प्रातःकाल के होने पर सूर्य के निकलते ही चन्द्रमा का तेज नष्ट हो जाता है। अलंकार—उपमा।

पृष्ठ—७५

७७. हीन नन्द०—हीन (नीच) नंद से रहित राजा के योग्य सिंहासन पर चन्द्रगुप्त को बैठा देख कर हमें बहुत सन्तोष होता है।

७८. जँहलौं०—सुरधुनी=गंगा।

उत्तर दिशा में गंगा के जलकणों से शीतल हिमालय के शिखर जहाँ तक हैं और नानाप्रकार के मणि-माणिक्यों से युक्त समुद्र दक्षिण दिशा में जहाँ तक बहते हैं वहाँ तक के जो सब राजा आकर भय से तेरे पैरों पर अपना सिर झुकाते हैं, उनके मुकुटों में लगे हुए रत्नों के सम्पर्क से रँगे हुए तेरे पैरों को देख कर हम सुख पाते हैं।

पृष्ठ—७६

७९. अहो यह०—अहो यह शरद्-ऋतु शंभु (महादेवजी) का रूप धारण करके आई है। (महादेवजी अपने शरीर पर भस्म रमाये रहते हैं)—शरद्-ऋतु में चारों ओर जो कास (एक प्रकार की घास का फूल—जिसका रंग बिलकुल सफेद होता है और जो शरद्-ऋतु में ही खिलता है) खिले हैं वही मानों अंगों में लगाई हुई भस्म है। आकाश में जो चन्द्रमा उदय हुआ है वही मानों महादेवजी के सिर का आभूषण है (महादेवजी ने मस्तक में चन्द्रमा को धारण किया हुआ है)। आकाश में चन्द्र की किरणों से रंजित कहीं-कहीं जो बादलों की टुकड़ियाँ हैं वही मानों हाथी की खाल है जिसे महादेव जी ओढ़ते हैं। जो अति शुभ्र खिले हुए फूल हैं वे ही मानों महादेव जी के गले की मुंडमाला हैं। और राजहंसों की पंक्ति ही मानों महादेवजी का हास्य है (कवि लोग हास्य का रंग शुभ्र वर्णन करते हैं) इस प्रकार यह शरद्-ऋतु महादेव जी का रूप धारण करके आई है। अलंकार—रूपक।

पृष्ठ—७७

८० हरौ हरि नैन०—अंक=गोद। अनियारे=नोकीले। कमला=लक्ष्मी।

शरद्-ऋतु को आया जान शेषनाग की गोद से जगत् के कल्याण के लिए जगे हुए विष्णु भगवान् के नेत्र तुम्हारी बाधाओं

बल द्वारा वश में लाकर जंगली हाथी को पकड़ते हैं वैसे ही हम उसे युक्ति से वश लाकर पकड़ेंगे। अलंकार—उपमा।

पृष्ठ-८३

८४ से ८६. जदपि आपु०—परिजन=नौकर चाकर

यद्यपि आपने नगर (कुसुमपुर) को जीत लिया तब भी जब तक उन की (राक्षस की) इच्छा थी तब तक वे हमारे सिर पर लात रखकर कुशल पूर्वक यहाँ रहे। जय-घोषणा की डौंडी फेरने के समय उन्हों ने अपनी सेना की जय प्रकट करके मेरी सेना के लोगों को तुरन्त हरा दिया और बिना डरके हमारे लोगों को उन्हों ने इस प्रकार मोह लिया कि मेरे अपने आदमी भी मुझ पर विश्वास नहीं करते। अलंकार—उदात्त और अतिशयोक्ति।

८७. अतिहि क्रोध०—बहुत क्रोध कर के, शिखा खोल कर मैंने (नव नन्दों के नाश की) जो प्रतिज्ञा की थी तदनुसार सब के देखते देखते पृथिवी को नवों नंदों से विहीन कर दिया। कुत्ते और गीधों से घिरी हुई, भय पैदा करने वाली यह श्मशान की आग नंद को जला कर भी अभी शान्त नहीं हुई।

पृष्ठ-८४

८८. खुली सिखाहू०—खुली हुई शिखा को बाँधने के लिए अर्थात् एक और प्रतिज्ञा करने के लिए हाथ फिर चंचल हो रहे हैं। (पहली प्रतिज्ञा बँधी हुई शिखा को खोल कर की थी पर अभी तक यह शिखा बँधी नहीं इसलिए इस बार जो प्रतिज्ञा की जाने लगी है वह शिखा बाँध कर की जाने लगी है।) हाथ के साथ पैर भी फिर घोर प्रतिज्ञा करना चाहते हैं। नंद का नाश होने से निश्चिंत होकर तू घमंड से फूला नहीं समाता सो हम तुझे गिराकर तेरा अभिमान मिटा देंगे।

मूल संस्कृत नाटक में "खुली सिखा हू बाँधिवे" की जगह "शिखां मोक्तुं बद्धां पुनरयं धावति करः" है। जिसका अनुवाद होना

गुरु की आज्ञा से छल से कलह करने में भी हमारा जी डरता है; किस तरह सचमुच लोग गुरु लोगों से लड़ते हैं, यह समझ नहीं आता।

चतुर्थ अंक

पृष्ठ–८६

९३. अतिसय दुर्गम०—ठाम=स्थान। जोजन=(योजन) ४०० मील का एक योजन होता है। निदेस=आज्ञा। भरपूर=पूर्ण स्नान।

सैकड़ों कोस दूर अत्यन्त दुर्गम स्थान में स्वामी की खास आज्ञा बिना कौन दौड़कर जाता है।

९४. कारज उलटो०—(चाणक्य की) कुटिलनीति के ज़ोर से काम उलटे ही होते जाते हैं, इसके लिए क्या उपाय किया जाय यह सोचते हुए हमें जागते ही जागते सबेरा हो जाता है अर्थात् इसी विचार में रात को नींद नहीं आती।

९५. आरम्भ पहिले सोचि०—नाटक का आरंभ सोचकर तदनुसार प्रयोजना करके तदनन्तर एक बात में छिपी हुई बहुत सी कार्य और फल तथा गूढ़ भेदों को दिखा कर और कर्त्तव्य तथा विघ्नों का विचारकर फैली हुई क्रियाओं को सकुचाने में नाटककार हम जैसे नीतिज्ञों के समान कष्ट उठाते हैं। अर्थात् पहिले शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय को सोच कर तदनुसार प्रयोग करके उसका विस्तार करते हुए उस में छिपे हुए फल और गूढ़ भेदों को दिखाते हुए तदनन्तर कर्त्तव्य और विघ्नों का विचार कर के फैली हुई क्रियाओं को सकुचाने में जिस तरह हम कष्ट उठाते हैं वैसा ही नाटककार को नाटक रचना में कष्ट उठाना पड़ता है।

पृष्ठ—८७

९६. नृप द्विजादि०—राजा और ब्राह्मण इत्यादि जिनका दर्शन मंगल-रूप है वे नीचों का मुख भी नहीं देखते पास रहने का तो कहना ही क्या।

पृष्ठ—८८

९७. कर वलय०—वलय=कंगन, चूड़ियाँ। अलक=बाल। रज= धूलि। जुवतिगन=स्त्रियाँ।

छाती पीटने से जिनकी चूड़ियाँ टूट गई हैं, शरीर के आँचल (कपड़ों) की भी जिन्हें सुध नहीं रही, हाय हाय करके जो आर्तनाद कर रही हैं और खुले हुए बाल जिन के धूल से भर गये हैं—वैधव्य के शोक के कारण मेरी माताओं की जो ऐसी दशा हुई थी वही दशा जब मैं शत्रुओं की स्त्रियों की (उनको विधवा करके) कर दूँगा तभी अपने पिता की तृप्ति करूँगा। मातुगन की जो दशा हुई थी वही रिपु-जुवतिन की करनी है इसलिए समविनिमय परिवृत्ति अलंकार है। छन्द—हरिगीतिका।

९८. रन मरि०—दृगजल=आँखों का पानी अर्थात् आँसू। रिपुजुवती=शत्रुओं की स्त्रियाँ।

या तो रण में मर कर वीरों की गति पाकर हम पिता के पास जायँगे और या अपनी माताओं के शोक के आँसू शत्रुओं की स्त्रियों के मुख पर रक्खेंगे। अर्थात् शत्रुओं को युद्ध में मार कर उनकी स्त्रियों को भी वैसे ही रुलावेंगे जैसे हमारी माताएँ रोई थीं। अलंकार—विकल्प क्योंकि दो कार्यों में से एक को निश्चित करना है।

९९. अति चपल०—जो रथ बहुत तेज चल रहे थे वे आज्ञा सुन कर चित्र की तरह स्थिर हो गये। जो घोड़े अपने खुरों से आकाश मार्गों को खोद रहे थे अर्थात् दौड़ते दौड़ते जिनके अगले पैर ऊपर उठे हुए थे वे झुक कर रुक गये। इसी प्रकार हाथी भी जो दौड़ रहे

थे, एकदम ठहर गये और साथ ही उनके घंटों की आवाज़ भी बंद हो गई। इस प्रकार हे कुमार ! ये राजा तुम्हारी मर्यादा को नहीं तोड़ते, मानो समुद्र के समान मर्यादा में बँधे हैं। अलङ्कार—स्वभावोक्ति, अन्तिम पंक्ति में उपमा। छन्द—हरिगीतिका।

पृष्ठ–९०

१००. भेद न फछु०—कहीं कुछ भेद न खुल जाय इस डर से मंत्री लोग राजा से और-की-और बात कहते हैं (असली बात नहीं कहते)।

पृष्ठ–९१

१०१. यद्यपि उदित०—हे जगदानन्द (संसार को आनन्द देने वाले नृप-ससि ! (राजाओं में चन्द्र के समान नृपनंद) यद्यपि चाँदनी युक्त चन्द्रमा कुमुदों के साथ उदय हुआ हुआ है अर्थात् यद्यपि कौमुदी-महोत्सव का समय है तो भी वह तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता। साथ ही यह भाव भी टपकता है कि यद्यपि चाँदनी (राज्य-लक्ष्मी) पाकर चन्द्रगुप्त कुमुदों अर्थात् अपने सामन्तों के साथ उदय हुआ हुआ है तो भी वह तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता। अलङ्कार—व्यतिरेक (उपमान चन्द्र से उपमेय नंद का आधिक्य वर्णन के कारण) तथा विनोक्ति।

१०२. नृप रूठै०—राजा, जिसके साथ सभी नगर-निवासी हैं, (कौमुदी-महोत्सव होना चाहिए इस बात में सब लोग राजा के साथ थे) यदि रुष्ट हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है क्योंकि रंग में भंग पड़ने पर (इच्छा के विरुद्ध काम होने पर) छोटा मनुष्य भी बुरा मान लेता है (राजा का तो कहना ही क्या)।

पृष्ठ–९३

१०३. देवनन्द को०—जिसने देव नंद द्वारा भोजन के अवसर पर किये गये अपमान को नहीं सहा वह अपने बनाये हुए राजा चन्द्रगुप्त की बात किसी तरह नहीं सहेगा।

१०४. मानद्दि मोंनि०—अभिमानी राजा चन्द्रगुप्त सब भाँति अधिकार पाकर और स्वच्छन्द राजा होकर अपना अपमान नहीं सह सकेगा। इसी तरह चाणक्य भी बड़े कष्ट से एक प्रतिज्ञा पूरी करके अपने उद्यम और घमण्ड के पूरे (मस्त) होजाने के कारण दूसरी प्रतिज्ञा नहीं करेगा।

पृष्ठ-९५

१०५. लक्ष्मी करत०—मंत्री और राजा दोनों को प्रबल पाकर लक्ष्मी निश्चल होकर निवास करती है (उसकी प्रभुशक्ति राजा में रहती है और मन्त्रशक्ति मन्त्री में)। पर यदि मन्त्री और राजा में विरोध हो जाय तो यह (राजलक्ष्मी) स्त्री स्वभाव के कारण उन दोनों में से एक को छोड़ देती है। अलंकार—समासोक्ति।

पृष्ठ-९६

१०६. जो नृप बालक०—जो राजा बालक के समान जगत् का कुछ देखे सुने बिना सदा सचिव की ही गोद में रहता है (सचिव ही के भरोसे रहता है) वह सुख नहीं पा सकता। अलङ्कार—उपमा।

१०७ चाणक्य को०—चाणक्य का अधिकार छूट गया और चन्द्रगुप्त नया राजा है। पुर (नगर) नंद में अनुरक्त है और आप अपने बल (सेना) सहित चढ़ाई कर रहे हैं। जब हम स्वयं तुम्हारे वस (अधीन अर्थात् मन्त्री) होकर लड़ाई की तैयारी कर रहे हैं तो हे नृप! उस हालत में ऐसी कौन-सी बात है जो सिद्ध न हो। अनेक कारणों के कथन के कारण समुच्चय अलंकार। छन्द—हरिगीतिका।

१०८. इन को ऊँचो०—करार=किनारा। कछार=किनारा।
लाल। मतङ्ग=हाथी। दाप=दर्प, घमंड।

इन दोनों में हाथी और सोन नदी में समानता दिखाई है—

इन हाथियों के सिर ऊँचे हैं और उस सोन नदी के किनारे भी ऊँचे हैं। दोनों ही श्याम रङ्ग के हैं (सोन नदी के किनारे काले काले तमाल

के वृक्ष हैं इसलिए वह काली दिखाई देती है)। एक में जल बहता है तो दूसरी ओर हाथियों के गण्डस्थलों से मद की धारा बहती है। उधर (सोन नदी में भँवर पड़ने से शब्द होरहा है तो इधर (हाथियों के गण्डस्थलों पर) भौंरे गुंजार रहे हैं। इस प्रकार हमारे हाथी सोन नदी को अपने समान समझ कर, उसके किनारे तोड़, उसे नष्ट कर देंगे। सिन्दूर लगाने से लाल मस्तक वाले ये बलवान् और मदमस्त हाथी सोन को सहज में ही सोख लेंगे यह निश्चय समझिए। क्रम से हाथी और सोन के विशेषण रक्खे जाने से यथासंख्य अलङ्कार है।

१०९. गरजि गरजि०—(सोन नदी पार करने के बाद) गम्भीर नाद से गरज गरज कर मद की धारा बहाते हुए हमारे हाथी शत्रु के नगर को उसी प्रकार से घेर लेंगे जैसे बादल (गरजते हुए और पानी बरसाते हुए) अनेक पहाड़ों को घेर लेते हैं। अलंकार—पूर्णोपमा।

पृष्ठ–९७

११०. पहिले कटु०—औषध (दवाई) के समान जिनका उपदेश पहिले कड़वा लगता है पर परिणाम में मीठा (लाभदायक) होता है ऐसे मोह-व्याधि (अज्ञान-रूपी रोग) के वैद्य जो गुरु हैं उनका कहना सुनो।

पृष्ठ–९८

१११. अथये सूरहिं०—अथये=अस्त होने पर। प्रशस्त=अच्छा सूर्य के अस्त और चन्द्रमा के उदय होने पर, एवं बुध स्वामी का लग्न अर्थात् (कन्या लग्न) पाकर तथा केतु के उदय होकर अस्त होने के समय (अर्थात् सप्तम स्थान पर होने के समय) जाना अच्छा है। साथ ही यह भाव भी झलकता है कि सूर (वीर राक्षस) के अस्त के समय और चन्द्र (चन्द्रगुप्त) के उदय के समय एवं बुध (चाणक्य) का लग्न पाकर तथा केतु (मलयकेतु) के उदय

होकर अस्त होने के समय (अर्थात् जब मलयकेतु शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है) जाना अच्छा है।

११२. एकगुनी०—तिथि के शुभाशुभ की शक्ति एक है, नक्षत्र की उससे चार गुणा और लग्न की चौंसठ गुणा होती है—ऐसा सब पत्रे, (जंत्री, ज्योतिष के ग्रन्थ) कहते हैं।

११३. लगन होत०—बुरा लग्न भी एक क्रूर-ग्रह के योग को छोड़ देने से सुलग्न हो जाता है। चन्द्र बल देखकर जाओ तो बहुत लाभ होगा।

भाव यह है कि क्रूर-ग्रह (मलयकेतु) को छोड़ देने से तुम्हारा भला होगा और चन्द्र (चन्द्रगुप्त) का बल देखकर तुम्हें लाभ (मन्त्रित्व) प्राप्त होगा।

पृ०–९९

११४. जब सूरज—जब सूर्य आकाश में प्रबल तेज धारण करके उदय हुआ तो ये बगीचे के वृक्ष छाया द्वारा पास-पास आते-जाते थे, सूर्य की गर्मी के नष्ट होने पर वे सब वृक्ष दूर चले गये हैं, जैसे कि धन-हीन स्वामी को नौकर छोड़ जाते हैं। भाव यह है कि जिस समय सूर्य उदय होता है उस समय वृक्षों की छाया बड़ी लंबी होती है, और दोपहर तक ज्यों ज्यों सूर्य का प्रताप बढ़ता जाता है वृक्षों की छाया छोटी होती जाती है अर्थात् वे छाया द्वारा सूर्य के पास आते-जाते हैं। दोपहर के बाद जब सूर्य का प्रताप घटने लगता है तो उनकी छाया फिर बढ़नी शुरू हो जाती है अर्थात् वे फिर दूर होने लगते हैं। अलंकार—उपमा।

पाँचवाँ अंक

इस अंक में निर्वहण सन्धि आरम्भ होती है और अगले तीनों अंकों में निर्वहण सन्धि ही है। निर्वहण का अर्थ है उपसंहार अर्थात्

पहले की सन्धियों में कही गई बातों का जिसमें मेल मिल जाय। इधर उधर फैली हुई बातों का अब यहाँ से संकोच होना प्रारम्भ होता है।

११५ देशकाल०—देश और काल-रूपी घड़े के (समयानुसार) बुद्धि-रूपी जल द्वारा सिंची हुई चाणक्य की नीति-रूपी लता बहुत फल देगी। अर्थात् इससे मलयकेतु और राक्षस में भेद डाला जायगा, जिससे दोनों ही को नीचा देखना पड़ेगा। अलंकार—रूपक।

पृष्ठ—१००

११६. नमो नमो०—अर्हन्त—जिनदेव, जैनदेवता।

उन अर्हन्तों को नमस्कार हो जो अपने बुद्धि-बल द्वारा परलोक की सब सिद्धियों को प्राप्त करते हैं। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि उस बुद्धिमान् चाणक्य को नमस्कार हो जो मलयकेतु और राक्षस आदि सब को हस्तगत कर लेगा।

भदन्त=बौद्ध या जैन सन्यासियों को पुकारने के लिए सम्मान-सूचक शब्द।

मूँड मुँड़ाकर नक्षत्र पूछते हो—अर्थात् काम करके साईत पूछते हो। "पानी पीकर जात पूछना" का भाव भी यही है।

पृष्ठ—१०१

११७. कहूँ विरल०—चाणक्य की नीति इतनी गूढ़ है कि इस का कुछ भेद नहीं जाना जाता। कभी यह स्पष्ट प्रकाशित हो जाती है, कभी दुर्बोध हो जाती है; कभी विफल मालूम पड़ती है, फिर कभी फलयुक्त दिखाई देती है; कभी कार्यवश स्थूल हो जाती है, तो कहीं सर्वथा नष्ट-सी प्रतीत होती है।

११८. जस कुल तजि०—यश और कुल को छोड़कर अपमान सहकर जो धन के लिए पराधीन हो चुके हैं, और जिन्होंने अपना प्राण और तन बेच दिया है वे सब-कुछ कर सकते हैं।

पृष्ठ-१०२

११९. नन्दवंश को०—क्या यह (राक्षस) चन्द्रगुप्त को नंद कुल का समझ कर उसे प्यार करता है अर्थात् चाणक्य को दूर कर स्वयं उसका मन्त्री बनना चाहता है अथवा मुझे अपना अपनाया हुआ समझ कर अन्त तक मेरा निर्वाह करेगा (साथ देगा)। चन्द्रगुप्त और मुझ में कौन उसको अधिक प्रिय है और कौन अप्रिय है यह समझ नहीं आता। इसलिए दिल में बड़ा सन्देह है; कुछ भेद नहीं पता लगता।

श्रावक—जैन सन्यासी गृहस्थों को इस शब्द से पुकारते थे।

पृष्ठ-१०४

१२०. सुन्यो मित्र०—श्रुति-भेदकर=कानों को फाड़ने वाला अर्थात् अत्यन्त कठोर।

हे मित्र! शत्रु ने अत्यन्त कठोर जो काम किया है वह मैंने सुना। जिससे इस समय (इतना समय बीतने पर भी) पिता के मरने का दुःख दूना हो गया है।

१२१. जिन तोपे विश्वास०—जिस देव पर्वतक ने तेरे पर विश्वास करके अपना धन-धाम सब तुझे सौंप दिया उसे मार कर तथा उसके मित्रों और आश्रितों को दुःख देकर तूने अपना "राक्षस" नाम सच्चा कर दिखाया।

पृष्ठ-१०५

१२१. मित्र शत्रु०—अर्थ और राजनीति के कारण समय-समय पर मित्र शत्रु हो जाते हैं, और शत्रु अत्यन्त प्रेम करना प्रारम्भ कर देते हैं, इस तरह मानों वे अपनी काया ही पलट देते हैं (बिलकुल दूसरा रूप धारण कर लेते हैं)।

१२३. गुण पै रिझवति०—गुणों पर रीझनेवाली तथा (नौकरों को) दोष से बचानेवाली माता के समान जो राजनीति है उसको हम हमेशा प्रणाम करते हैं।

१२४ रहत साध्य ते०—मनुष्य कई तरह से ज्ञान प्राप्त करता है। एक प्रत्यक्ष द्वारा—अर्थात् आँखों से देख कर। दूसरा शब्द प्रमाण द्वारा—अर्थात् प्रामाणिक और अनुभवी लोगों के कथन से, जैसे जिन्होंने योरोप की सैर नहीं की वे वहाँ के यात्रियों के वर्णन से वहाँ की परिस्थिति से परिचित हो जाते हैं। तीसरा अनुमान द्वारा—अर्थात् एक मनुष्य प्रत्यक्ष में किन्हीं दो वस्तुओं को सदा एक साथ देखता है और यह जानता है कि उनमें से जहाँ एक वस्तु होगी वहाँ दूसरी भी अवश्य होगी तो जब कभी वह उनमें से एक चीज़ को कहीं देख लेता है तो समझ लेता है कि वहाँ दूसरी भी अवश्य होगी। जैसे एक आदमी रोज घर में देखता है कि जब वहाँ धुँआ होता है तो आग अवश्य होती है। इस के बाद यदि कभी दूर जंगल में या पहाड़ पर वह धुँआ देखता है तो समझ लेता है कि वहाँ आग अवश्य लगी होगी। इसी को अनुमान कहते हैं। इस अनुमान द्वारा जिस बात को सिद्ध करना हो उसे साध्य कहते हैं। जिसके द्वारा सिद्ध हो उसे हेतु या साधन कहते हैं। जहाँ साध्य का रहना निश्चित हो उसे सपक्ष कहते हैं जिस में अनुमान से साध्य की सिद्धि करनी हो उसे पक्ष कहते हैं और जिस जगह साध्य का निश्चित रूप से अभाव हो उसे विपक्ष कहते हैं। "पर्वत पर आग है धुँआ होने के कारण, क्योंकि जहाँ जहाँ *धुँआ होता है वहाँ वहाँ आग अवश्य होती है जैसे रसोईघर में*" इस अनुमान वाक्य में आग साध्य है क्योंकि आग दिखाई नहीं दे रही पर धुँए को देखकर हम उसे सिद्ध करना चाहते हैं। धुएँ के द्वारा हम सिद्ध करना चाहते हैं इसलिए वह साधन या हेतु है। पर्वत पर हम आग सिद्ध करना चाहते हैं इस लिए पर्वत पक्ष होगा। रसोई में हम रोज आग देखते हैं वहाँ उसका रहना निश्चित है अतः उसे सपक्ष कहेंगे, तालाब, कुँए आदि में आग का सदा ही अभाव रहता है इस लिए इसे विपक्ष कहेंगे।

कवि कहता है कि वही साधन (धुआँ आदि) साधक (सिद्ध करने में समर्थ) होते हैं जो साध्य (अग्नि आदि) में अन्वित हो (अन्वय व्याप्ति युक्त हो—जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग होती है इस तरह की सङ्गति को अन्वय व्याप्ति कहते हैं) तथा जो अपने पक्ष (पर्वत आदि) में मौजूद हो तथा विपक्ष (तालाब आदि) को न छुए। जो साधन स्वयं असिद्ध (सिद्ध करने में असमर्थ) हो एवं सपक्ष (रसोई आदि) और विपक्ष (तालाब आदि) में समान रूप से रहता हो (जैसे पर्वत पर भाफ देख कर यह अनुमान करना भूल है कि पर्वत पर आग है भाफ होने के कारण। भाफ विपक्ष तालाब आदि में भी होती है) या जिस साधन का पक्ष (पर्वत आदि) से कोई सम्बन्ध ही न हो उस अनुचित साधन के अङ्गीकार करने से जिस प्रकार वादी (विवाद करनेवाला) हार जाता है उसी प्रकार उसी राजा का साधन (सेना) साधक (विजय पाती है) जो साध्य (विजय प्राप्ति के सामर्थ्य से) अन्वित (युक्त) है और अपने ही पक्ष में रहता है तथा विपक्ष (शत्रु पक्ष) को छूती तक नहीं। जो सेना आप ही असिद्ध (असमर्थ) है अथवा अपने राजा के पक्ष में और शत्रु पक्ष में समान भाव रखती है (जो भी राजा वेतन दे उसके पक्ष हो जाती है) या अपने पक्ष से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती (जैसे कि भागुरायण आदि दिखावटी रूप से मलयकेतु से मिले हुए थे पर अन्दर से उनका उसके साथ कुछ भी प्रेम न था) उस सेना को स्वीकार करने से राजा हर तरह से पराजित हो जाता है। अलंकार—पूर्णोपमा। छन्द—छप्पय।

इस पद्य से कवि ने जहाँ न्याय-दर्शन का ज्ञान प्रदर्शित किया है वहाँ वह राक्षस तथा चाणक्य के चरित्र में जो बड़ा भारी भेद है वह प्रत्यक्ष रूप से दिखा देता है। चाणक्य को जब कुछ बात सन्देह हो जाता है तो वह तब तक सन्तोष नहीं करता जब तक

उसका पूरा पता नहीं के लेता। परन्तु राक्षस को इस बात पर शक होता है कि चन्द्रगुप्त के पक्ष के बहुत से मनुष्य मलयकेतु की सेना में क्यों भरती हो रहे हैं, कहीं वे शत्रु के भेजे हुए तो नहीं। वह इस सन्देह की विशेष जाँच किये बिना ही मन को समझा लेता है कि ये लोग चन्द्रगुप्त से उदास होकर ही आये हैं। इसी भूल के कारण वह अन्त में हारता है और सब स्थानों पर उसे उन्हीं आदमियों से धोखा मिलता है जिन्हें वह अपना मित्र समझता था।

पृष्ठ–१०९

१२५. आगे खस०—जयध्वजा फहराते हुए खस और मगध के राजा आगे-आगे चलें। यवन और गांधार के राजा अपनी सेना सहित बीच में रहें। चेदि, हून और शक देश के राजा पीछे-पीछे चलें। कौलूतादि राजा कुमार की देह रक्षार्थ साथ-साथ रहें।

पृष्ठ–११०

१२६. सेवक प्रभु०—सेवक सदा स्वामी से डरते रहते हैं, पराधीन लोगों को सपने में भी सुख नहीं है। जो ऊँचे राजकर्मचारी हैं उनको मन ही मन बड़ा भय रहता है, क्योंकि सब ही बड़े लोगों से द्वेष करते हैं और दिन-रात स्वामी के कान भरते रहते हैं।

१२७. जिमि जे०—जिस तरह जो जन्मते हैं उनकी मृत्यु तथा जो मिलते हैं उनका वियोग भी निश्चित है इसी तरह जो बहुत ऊँचा चढ़ते हैं उनका पतन भी अवश्य होता है। अलंकार—उपमा।

१२८. लखत चरन०—अवनीस=राजा। नमित=झुका हुआ।

यद्यपि अचल दृष्टि से अपने पैर की ओर निहार रहा है तो भी उसे देखता नहीं है (प्रायः चिन्ता की अवस्था में ऐसा होता है कि चिन्ता करनेवाला किसी चीज़ की ओर ताक तो रहा होता है पर उसे देख नहीं रहा होता)। उसकी अचल दृष्टि एक ही ओर है और कुछ सोच रहा है। हाथ पर अपना सिर रख कर राजा मलय-

केतु इस प्रकार मुड़ा हुआ है मानो कठिन काम के भार से सिर स्वयं ही झुक गया है। अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पृष्ठ—११३

१२९. पुत्र दार०—स्त्री और पुत्र की याद करके लोग स्वामि-भक्ति भूल जाते हैं; और निश्चल कीर्ति को छोड़ कर नष्ट होने वाले धन से प्यार करने लगते हैं।

१३०. मुद्रा ताके०—पहले राक्षस सन्देह में था कि शकटदास ने पत्र लिखा है या कोई और धूर्तता हुई है पर अब उसको निश्चय हो जाता है और वह कहता है कि मुद्रा (मोहर राक्षस के नाम की जो सिद्धार्थक ने राक्षस को दी थी और राक्षस ने काम काज के लिए शकटदास के सुपुर्द की थी) शकटदास के हाथ में रहती है। और सिद्धार्थक भी उसका (शकटदास का) मित्र है, यह पत्र भी उसी के हाथ का लिखा हुआ है, यह चित्र (शकटदास के लेख का नमूना) इस बात को सिद्ध कर रहा है। मालूम होता है अपने धर्म को भूल कर स्वामी-विमुख शकटदास ने शत्रुओं से मिलकर हमारा आपस में भेद डालने के लिए यह नीच कर्म किया है। अलंकार—काव्यलिंग।

पृष्ठ—११४

सुगृहीत नाम धेय = प्रातः स्मरणीय।

१३१ भूषण प्रिय०—हे कुल-भूषण तथा भूषण-प्रिय (गहनों को पसन्द करने वाले) ये सब आपके अंगों के आभूषण हैं (अन्वय इस प्रकार है "कुल भूषण! भूषण प्रिय! सबै तुव अंग भूषण")। आपके मुख के पास ये इसी प्रकार शोभित होते थे जैसे चन्द्र (मुख) के साथ तारे (आभूषण)। अलंकार—उपमा।

१३२. अधिक लाभ०—हे दुष्ट, अधिक लाभ के लोभ से मेरे प्रेम को भूल कर इन गहनों के बदले तुमने मेरा शरीर बेच दिया

है। अलंकार—परिवृत्ति।

१३३. मम लेख०—पतियाइ है = विश्वास करेगा।

"यह मेरा लेख नहीं है" यह कैसे कहें जब हमारे हाथ की मोहर लगी है। इस बात पर भी विश्वास नहीं होता कि शकटदास मित्रता छोड़ देगा। फिर राजा चन्द्रगुप्त गहने बेचेगा इस पर कौन विश्वास करेगा। इस से अब मौन रहना ही अच्छा है। क्योंकि बोलने से बची-बचाई इज़्ज़त भी मारी जावेगी। कारण देने से काव्यलिंग अलंकार।

पृष्ठ-११६

१३४. स्वामी पुत्र तुव०—मलयकेतु तुलना करके कहता है कि मुझे पता नहीं कि तुमने यह विश्वासघात क्यों किया—

मौर्य (चन्द्रगुप्त) तुम्हारे स्वामी का लड़का है (अतः वह भी तुम पर हुक्म ही चलाना चाहेगा) और मैं तुम्हारे मित्र का पुत्र हूँ और फिर तुम्हारे साथ प्रीति रखता हूँ। वहाँ तुम उसका (चन्द्रगुप्त का) दिया हुआ पाओगे और यहाँ तुम हमको देते हो। वहाँ सचिव होने पर भी दास (नौकर) ही होओगे और यहाँ तुम स्वयं मालिक हो। फिर कौनसा तुमने अधिक लाभ देखा जो यह विश्वासघात रूपी पाप किया।

राक्षस भी इसी छन्द को उलट कर पढ़ता है और यही दिखाता है कि वहाँ मुझे कौन सा ऐसा प्रलोभन था जो मैं यह पाप करता। अर्थात् कोई नहीं था इसलिए मैंने यह पाप नहीं किया।

मौर्य (चन्द्रगुप्त) मेरे स्वामी का लड़का है और तुम मेरे मित्र के लड़के हो और मुझ में प्रीति भी रखते हो। वहाँ मैं चन्द्रगुप्त का दिया हुआ पाऊँगा और यहाँ मैं तुम को देता हूँ। मन्त्री बनने पर भी मैं वहाँ नौकर ही कहलाऊँगा और यहाँ मैं स्वयं स्वामी हूँ। फिर कौन सा ऐसा प्रलोभन था जिस में फँस कर मैं यह पाप करता?

केतु इस प्रकार झुका हुआ है मानो कठिन काम के भार से स्वयं ही झुक गया है। अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पृष्ठ–११३

१२९. पुत्र दार०—स्त्री और पुत्र की याद करके लोग स्वामि भक्ति भूल जाते हैं; और निश्चल कीर्ति को छोड़ कर नष्ट होने वाले धन से प्यार करने लगते हैं।

१३०. मुद्रा ताके०—पहले राक्षस सन्देह में था कि शकटदास ने पत्र लिखा है या कोई और धूर्तता हुई है पर अब उसको निश्चय हो जाता है और वह कहता है कि मुद्रा (मोहर राक्षस के नाम की जो सिद्धार्थक ने राक्षस को दी थी और राक्षस ने काम काज के लिए शकटदास के सुपुर्द की थी) शकटदास के हाथ में रहती है। और सिद्धार्थक भी उसका (शकटदास का) मित्र है, यह पत्र भी उसी के हाथ का लिखा हुआ है, यह चित्र (शकटदास के लेख का नमूना) इस बात को सिद्ध कर रहा है। मालूम होता है अपने धर्म को भूल कर स्वामी-विमुख शकटदास ने शत्रुओं से मिलकर हमारा आपस में भेद डालने के लिए यह नीच कर्म किया है। अलंकार—काव्यलिंग।

पृष्ठ–११४

सुगृहीत नाम धेय = प्रातः स्मरणीय।

१३१ भूषण प्रिय०—हे कुल-भूषण तथा भूषण-प्रिय (गहनों को पसन्द करने वाले) ये सब आपके अंगों के आभूषण हैं (अन्वय इस प्रकार है "कुल भूषण! भूषण प्रिय! सबै तुव अंग भूषन")। आपके मुख के पास ये इसी प्रकार शोभित होते थे जैसे चन्द्र (मुख) के साथ तारे (आभूषण)। अलंकार—उपमा।

१३२. अधिक लाभ०—हे दुष्ट, अधिक लाभ के लोभ से मेरे प्रेम को भूल कर इन गहनों के बदले तुमने मेरा शरीर बेच दिया

है। अलंकार—परिवृत्ति।

१३३. मम लेख०—पतियाइ है=विश्वास करेगा।

"यह मेरा लेख नहीं है" यह कैसे कहें जब हमारे हाथ की मोहर लगी है। इस बात पर भी विश्वास नहीं होता कि शकटदास *मित्रता छोड़ देगा। फिर राजा चन्द्रगुप्त गहने बेचेगा इस पर कौन* विश्वास करेगा। इस से अब मौन रहना ही अच्छा है। क्योंकि बोलने से बची-बचाई इज़्ज़त भी मारी जावेगी। कारण देने से काव्यलिंग अलंकार।

पृष्ठ–११६

१३४. स्वामी पुत्र तुव०—मलयकेतु तुलना करके कहता है कि मुझे पता नहीं कि तुमने यह विश्वासघात क्यों किया—

मौर्य (चन्द्रगुप्त) तुम्हारे स्वामी का लड़का है (अतः वह भी तुम पर हुक्म ही चलाना चाहेगा) और मैं तुम्हारे मित्र का पुत्र हूँ और फिर तुम्हारे साथ प्रीति रखता हूँ। वहाँ तुम उसका (चन्द्रगुप्त का) दिया हुआ पाओगे और यहाँ तुम हमको देते हो। वहाँ सचिव होने पर भी दास (नौकर) ही होओगे और यहाँ तुम स्वयं मालिक हो। फिर कौनसा तुमने अधिक लाभ देखा जो यह विश्वास-घात रूपी पाप किया।

राक्षस भी इसी छन्द को उलट कर पढ़ता है और यही दिखाता है कि वहाँ मुझे कौन सा ऐसा प्रलोभन था जो मैं यह पाप करता। अर्थात् कोई नहीं था इसलिए मैंने यह पाप नहीं किया।

मौर्य (चन्द्रगुप्त) मेरे स्वामी का लड़का है और तुम मेरे मित्र के लड़के हो और मुझ में प्रीति भी रखते हो। वहाँ मैं चन्द्रगुप्त का दिया हुआ पाऊँगा और यहाँ मैं तुम को देता हूँ। मन्त्री बनने पर भी मैं वहाँ नौकर ही कहलाऊँगा और यहाँ मैं स्वयं स्वामी हूँ। फिर कौन सा ऐसा प्रलोभन था जिस में फँस कर मैं यह पाप करता?

यह तो स्त्रियों का काम है। हाथ में तलवार खींचकर पतंग के समान शत्रु-रूपी आग में कूद पड़ने पर इस दुस्साहस से निश्चय ही चन्दनदास मारा जावेगा। अलंकार—उपमा।

षष्ठ अंक

१४२. जलद नील०—श्याम मेघ के समान कृष्ण शरीरवाले और केशी राक्षस (इस राक्षस को कंस ने कृष्ण को मारने के लिए वृन्दावन भेजा था, वहाँ वह घोड़े के रूप में गया और श्रीकृष्ण द्वारा मारा गया) के लिए काल-रूप भगवान् श्रीकृष्ण की जय हो। सज्जनों के नेत्रों को चन्द्र के समान सुख देनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय हो। आर्य चाणक्य की बलवती नीति की जय हो, जो बिना सेनाओं की सहायता के ही शत्रु को जीतनेवाली है। 'जलद-नील-तन' में उपमा 'सुजन-जन दृष्टि-ससि' में रूपक और अन्तिम पंक्ति में विभावना अलंकार है।

१४३. मिटत ताप०—मित्र के विरह की ज्वाला शीतल वस्तुओं के पास से भी कम नहीं होती, उत्साह नष्ट हो जाता है और मित्र के बिना सुखदायक पदार्थ मन को और अधिक उदास करते हैं।

पृष्ठ-११८

मोहित मति होकर=चाणक्य की नीति के फेर में पड़ कर। भ्रान्त मति होकर।

मुख में और तथा निर्वहण में और बात है=प्रारम्भ (मुखसन्धि) में कुछ और है तथा उपसंहार में कुछ और फल दिखाया गया है।

पृष्ठ-११९

१४४. सरस०—जिनके गण्ड-स्थलों से मद चू रहा है और जो मेघ के समान चिंघाड़ रहे हैं, ऐसे हाथी तथा चाबुक के डर से कंपित बहुत-से घोड़े द्वार पर खड़े हैं।

पृष्ठ-१२०

१४५. षट् गुन०—षट् गुन=१. संधि, विग्रह, आदि छः गुण, २. छःतन्तु (सूत)। उपाय=१. साम दाम, आदि उपाय, २. कौशल। संधि, विग्रह आदि छः गुण रूपी छःतन्तुओं (सूतों) से जो दृढ़ करके गुथी हुई है, सामादि उपायरूपी कौशल के प्रयोग से जिसमें फाँसी के समान मुख बना हुआ है, तथा जो शत्रु को बाँधने में चतुर है ऐसी चाणक्य की नीति रूपी डोरी की जय हो। अलंकार—रूपक तथा श्लेष।

१४६ से १४८. आश्रय विनसै०—कुलटा=व्यभिचारिणी स्त्री। अनुगौन=अनुगमन, अनुसरण, पीछे जाना। भौन=भवन, घर। आप्त मित्र=विश्वासी मित्र। अहि=साँप। छार=राख।

आश्रय के नष्ट होने पर जैसे व्यभिचारिणी स्त्री दूसरे के पास चली जाती है इसी प्रकार नंद को छोड़ कर चंचला राज्य-लक्ष्मी जाकर चन्द्रगुप्त को लिपट गई है। देखादेखी प्रजा ने भी उस का अनुगमन किया है, अपने राजा का प्रेम छोड़ कर सब ने कुसुमपुर को घर बना लिया है (वहीं जाकर रहने लगे हैं)। विश्वस्तमित्र भी अपने उद्योग में निष्फल होकर कार्य भार छोड़ बैठे हैं; सिर के बिना जैसे साँप राख के समान होता है (कुछ कर नहीं सकता) ऐसे ही वे भी सिर के समान राजा के अभाव के कारण कुछ कर नहीं सके। पहले और तीसरे दोहे में उपमा अलंकार।

पृष्ठ-१२१

१४९ से १५२ तक. तजि कै निज०—वृषली=शूद्रा। छिद्र=दोष छंद=कपट। बाम=उलटा। सैलेश्वर=पर्वतेश्वर।

संसार के स्वामी, कुलीन, अपने स्वामी नंद राजा को छोड़ कर शूद्रा राज्यलक्ष्मी शील त्याग कर और छल करके वृषल (शूद्र, चन्द्रगुप्त) के पास चली गई है। वहाँ जाकर अपने चंचल स्वभाव को भूल कर स्थिर हो गई है। हमारा कुछ वश नहीं चलता क्यों

कि दैव उलटा है वह सब कुछ बिगाड़ देता है। नंद के मरने पर हमने पर्वतेश्वर को राज्य देना चाहा और उस के भी नष्ट हो जाने पर उस के पुत्र मलयकेतु के लिए प्रबन्ध किया परन्तु वह प्रबन्ध भी बिगड़ गया और मनोरथ का मूल ही नष्ट हो गया। इस में चाणक्य का क्या दोष है दैव ही उलटा हुआ हुआ है। 'जाइ तहाँ थिर ह्वै रही' में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है—

१५३-१५४. मरे स्वामि हू०—स्वामी के मर जाने पर भी जिसने उसके अनुराग को नहीं छोड़ा, और लोभ छोड़कर तथा प्राण देके जिसने शत्रु से विरोध कर लिया वही राक्षस शत्रु से जा मिलेगा यह कितने अँधेर की बात है। उस मूर्ख मलयकेतु को इतना भी नहीं सूझा, सच ही दैव ने उसकी बुद्धि का नाश कर दिया है।

१५५-१५६ इतहि देव०—यहाँ देव नंद अभ्यास के लिए धनुष बाण लेकर रथ के पहियों के घेरों से पृथिवी पर चित्र से बनाते थे। जहाँ राजा लोग इधर उधर शंकित से खड़े रहते थे वही पृथिवी उजाड़ होगई है आँखों से देखी नहीं जाती।

पृष्ठ-१२२

१५६. जिमि नव ससि०—जिस तरह नये चाँद को सब लोग हाथ उठा-उठाकर देखते हैं उसी तरह जिसको पुरवासी लोग देख कर आनन्द पाते थे और छोटे-छोटे राजा लोग जिसकी कृपा-दृष्टि की हमेशा चाह करते थे, वही हम अब चोर की तरह डरते हुए इधर चल रहे हैं। अलङ्कार—उपमा।

१५८-१५९. नसे विपुल०—राजा (नंद) के भारी परिवार के समान बड़े-बड़े घर नष्ट हो गये हैं। मित्र-नाश से जिस तरह साधुओं के हृदय सूख जाते हैं वैसे ही यह तालाब सूख गया है। प्रारब्ध के विपरीत होने पर जिस तरह नीति निष्फल हो जाती है, वैसे ही ये वृक्ष फल-हीन हो गये हैं। मूर्ख की बुद्धि जैसे कुनीति से घिर

जाती है वैसे ही पास-फूस में यह ज़मीन घिर गई है। अलङ्कार—उपमा।

१६०-१६१. तीक्षनपरसु०—तीक्ष्ण कुल्हाड़े के प्रहार से कटे हुए शरीरवाले तथा सिंडुक (एक पक्षी, पेंडकी) के साथ मिलकर रोते हुए वृक्षों के साथ दिखाई दे रहे हैं वृक्षों के खोंड़रे में से कीड़ों के बोलने का जो शब्द निकलता है वही मानों वृक्ष रोते हैं और उन वृक्षों पर जो पेंडकी बोलती है वही मानों रोने में वृक्षों का साथ देती है)। अपने मित्र अर्थात् वृक्षों को दुखी देख साँप आहें भरते हैं और फाहे के बहाने से उन के घावों पर अपनी केंचुली धरते हैं। दूसरे दोहे में उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

१६२. तरुगन०—वृक्षों का हृदय (भीतरी अंश) सूख गया है, कीड़ों के काटने से उनके शरीर में बहुत से छिद्र हो गये हैं (जिन में उनका रस आँसू के समान बह रहा है) और पत्र, फल तथा छाया के न होने से दुखी हैं मानों सब श्मशान को जा रहे हैं।

१६३-१६४. अति ही तीखन०—शंख और पटह की ध्वनि से मिला हुआ मंगल का शब्द अति तीक्ष्ण होने के कारण श्रोताओं के कान फोड़ता हुआ जब घरों में नहीं समाया तो इधर (मैदान में) चला आया है। मानों दिशाओं की दूरी नापने के लिए निकला है। अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

पृष्ठ—१२३

१६५. मेरे बिनु०—शत्रुओं ने मेरे न रहने से सबल होकर हमारी सेना को जीतकर मानो मुझे सुनाने के लिए ही यह कठोर शब्द किया है। अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

पृष्ठ—१२४

१६६. कै तेहि०—क्या उसे कोई असाध्य रोग हो गया है जिस की न कोई दवाई है और न कोई इलाज है? या अग्नि और ज़हर से भी बढ़कर भयंकर राजकोप में फँसकर वह प्राण छोड़ रहा है? या

किसी सुन्दरी पर उसका दिल चल गया है जिसके वियोग का वाण उसके हृदय में लग गया है ? या तुम्हारे समान मित्र का दुःख ही इसकी मृत्यु का कारण है ? अलङ्कार—उपमा।

पृष्ठ–१२५

१६७. जा धन के०—जिस धन के लिए स्त्रियाँ पति को छोड़ देती हैं, पुत्र शील (नम्रता) खोकर पिता को छोड़ देते हैं, भाई भाई से शत्रु के समान लड़ पड़ते हैं, मित्र मित्रता छोड़ देते हैं, उस धन की तूने बनिया होकर भी परवाह नहीं की और मित्र के दुःख से दुखी होकर दे दिया। तुम्हारा ही धन वास्तव में सार्थक है, तुम्हारे समान त्यागी संसार में कोई और आदमी नहीं है।

अलङ्कार—दूसरी पंक्ति में उपमा, "स्वारथ अर्थ तुम्हारो ही है" के लिए कई कारण देने के कारण काव्यलिंग, "तुम्हारे सम और न या जग कोई" में धर्मोपमानलुप्तोपमा।

पृष्ठ–१२६

१६८. मित्र परोच्छहु०—मित्र के परोक्ष में (आँखों के सामने न होते हुए, भी तुमने शरण में आये हुए की रक्षा की है इसलिए तुमने इस काल (विकट, स्वार्थ-पूर्ण) समय में भी शिवि के समान निर्मल यश पा लिया है। अलंकार—व्यतिरेक (शिवि से भी अधिक प्रशंसनीय होने के कारण।

१६९. समर-साध०—समर=युद्ध, साध=इच्छा, ख्वाहिश। युद्ध की इच्छा से मानों जिसका शरीर पुलकित हो गया है, और जो मेरे हाथ की साथिन है, जिसने युद्ध में कई बार शत्रुओं के बल की परीक्षा ली है, और स्वच्छ आकाश के समान श्याम जिसका रङ्ग है वह यह तलवार मेरे गुस्से को बढ़ा रही है और मित्र की विपत्ति से दुखी मुझे युद्ध के लिए प्रेरित कर रही है। 'समर साध तनु पुलकित' में उत्प्रेक्षा और 'विगत जलद नभनील' में उपमालंकार है।

पृष्ठ–१२८

१७०. शकट पच्यो०—शकटदास यदि उसके (शत्रु के, चाणक्य के) कहने से शूली पाने से बचा; तो वधिकों को क्यों मारा गया (यदि सचमुच ही सिद्धार्थक ने वधिकों से लड़ कर शकटदास को छुड़ाया तो उसने यह पत्र इत्यादि क्यों लिखा) इस तरह मैं इस जाल में फँस-सा गया हूँ, कुछ समझ नहीं पड़ता कि असली बात क्या है। कुछ निश्चय न होने का हेतु साथ देने के कारण काव्य-लिंग अलंकार है।

१७१. नहि शस्त्र०—यह शस्त्र द्वारा लड़ाई करने का समय नहीं है, क्योंकि इससे मित्र चन्दनदास के प्राण जायँगे। जो नीति सोचना शुरू करें तो फिजूल समय नष्ट होगा। जब कि मेरे लिए ही चंदनदास विपत्ति में पड़ा है तो चुप रहना भी ठीक नहीं इसलिए अब मित्र को बचाने के लिए हम अपना शरीर बेचेंगे। पहली तीन पंक्तियों में काव्यलिंग अलंकार—और अन्तिम पंक्ति में परिवृत्ति।

सप्तम अंक

१७२. करिकै०—पथ्य का विरोध करने से अर्थात् अपथ्य करने से केवल एक रोगी ही मरता है पर राजा का विरोध करने से मनुष्य कुटुंब-समेत ही मारा जाता है।

पृष्ठ–१२९

१७३. छोडि मांस०—मांस-भख=मांस खाना।

हिंसा के भय से मांस खाना छोड़ कर जो तृण और घास खाकर ही जीते हैं उन बिचारे मृगों को भी निर्दय व्याधा मार डालता है। भाव यह है कि निर्दय लोग दीन निरपराधों को भी दुख देते हैं। अप्रस्तुत वधिक द्वारा मृग का वध दिखला कर प्रस्तुत चाणक्य द्वारा चंदनदास का वध दिखलाने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार।

पृष्ठ–१३१

१७४. नसत स्वामि०—नष्ट होता हुआ स्वामी का कुल जिस ने शत्रु के समान अपनी आँखों से देखा, मित्रों के दुःख में भी जो निर्लज्ज होकर प्राण धारण किये रहा और तुमसे सब प्रकार हारने पर भी जिसके प्राण नहीं निकले उस मुझ राक्षस के गले में यह यम-फाँस डालो। शत्रु समान में उपमालङ्कार।

१७५ से १७७. तक जिन कलि०—जिसने कलियुग में भी मित्र के लिए अपने प्राण तृण के समान दे दिये, जिसके यश रूपी सूर्य के सामने शिवि का यश दीपक के समान है, जिसके निर्मल चरित्र और दया इत्यादि गुणों को नित्य देखकर और परम-शुद्ध मान कर बौद्ध भी लज्जित हो गये हैं, अरे पापी! उस दया के पात्र को तू जिसके लिए पकड़कर मार रहा है वह मैं तेरा शत्रु स्वयं ही यहाँ आगया हूँ। 'जस रवि' में रूपक तथा पहले और दूसरे दोहे में व्यतिरेक अलङ्कार है।

पृष्ठ–१३२

१७८. किन निज०—भयंकर अग्नि की ज्वाला को किसने अपने कपड़ों के अंदर बंद कर लिया है, डोरियों के जाल से ही किसने हवा के प्रवाह को रोक लिया है, हाथियों को पछाड़ने वाले सिंह को किसने पिंजरे में डाल दिया है, और किसने केवल बाहुओं के बल से ही तैर कर समुद्र को पार किया है। अलंकार—निदर्शना।

१७९. सागर जिमि०—समुद्र जिस प्रकार रत्नों की खान होता है इसी प्रकार यह गुणों की खान है। वैरी जानकर भी इसके गुण देख-देख कर मन नहीं भरता। अलंकार—उपमा।

पृष्ठ–१३३

१८०. बहु दुख०—बड़े कष्ट से रात-रात भर जागकर सोचते हुए मेरी बुद्धि को और चन्द्रगुप्त की सेना को जिसने थका दिया है।

अलंकार—तुल्ययोगिता, क्योंकि मति और सेना दोनों का एक धर्म वर्णन किया गया है।

१८१. ये सब भद्र०—वे सब भद्रभट आदि (जो आकर मलयकेतु के यहाँ नौकर हुए थे), वह सिद्धार्थक, वह लेख—(जो शकटदास से लिखवाया गया था, जिसके द्वारा मलयकेतु को संदेह हुआ), वह भदन्त (क्षपणक जीवसिद्धि जिसने मलयकेतु से कहा था कि पर्वतक को राक्षस ने मरवाया है), वे आभूषण—(जो राक्षस के पास बेचे गये थे), वह दुखी वेश में मनुष्य—(जो फाँसी लगाने को तैयार था), और वह दुःख जो चंदनदास को दिया गया है, वह सबकुछ चन्द्रगुप्त को तुमसे मिलाने के लिए ही था।

पृष्ठ—१३४

१८२. है बिनु०—थोक=समूह। गत-भीति=भयरहित, निश्चिंत। कुछ काम न होने के कारण अर्थात् निकम्मा होने के कारण लज्जित होकर मेरा बाण समूह नीचा मुख किये हुए तूणीर में सोता रहता है। हम भी यद्यपि सारे संसार को जीत सकते हैं तो भी धनुष उतार कर सोते हैं क्योंकि हमारे नीति-निपुण और निर्भय गुरु ही सदा जागते रहते हैं, अर्थात् राज-कार्य में दत्तचित्त रहते हैं।

१८३. होनहार जाको०—जिसका भावी उदय बचपन से ही दिखाई दे रहा था और जिस ने उसी प्रकार बचपन में ही राज्य प्राप्त कर लिया है जैसे कोई हाथी का बच्चा यूथाधिप (झुंड का मुखिया) बन जाय। अलंकार—उपमा।

१८४. तुम्हरे आछत०—जागत=सावधान, सचेत। आछत=हते हुए।

सदा सावधान और नीतिनिपुण आपके गुरु रूप में रहते हुए गत् में ऐसी कौन-सी चीज़ है जिसे हम जीत न सकें।

१८५. पाइ स्वामी०—योग्य स्वामी को पाकर मंत्री यदि मूर्ख भी

हो तो भी वह लाभ और यश प्राप्त करता है; पर यहाँ तो दोनों चतुर हैं। और मूर्ख स्वामी को पाकर मंत्री यदि चतुर हो तो भी वह उसी तरह गिरता है जैसे नदी के किनारे का वृक्ष पानी से धीरे-धीरे कमज़ोर होकर गिर पड़ता है। अलङ्कार—अप्रस्तुत प्रशंसा और उपमा।

पृष्ठ–१३५

१८६. रहत लगामहि०—सब योद्धा हर समय घोड़ों की लगाम कसे रहते हैं, और किसी समय भी उनकी पीठ नहीं छोड़ते। खान-पान, स्नान और भोग-विलास को छोड़ कर ये युद्ध भूमि की तरफ़ ही आँख लगाये रहते हैं। उनके सब सुख-साज छूट गये हैं, आँखों में नींद नहीं आती, हर समय भयभीत मन होकर चौंकते रहते हैं (कहीं शत्रु आक्रमण न कर दे)। प्रतिक्षण हौदों से कसे हुए राजा के इन हाथियों को देखिये और इससे शत्रु के घमंड को दूर करने वाले अपने पराक्रम का अनुमान कीजिये। अर्थात् आपके डर से ही तो हमारी सेना की यह बुरी दशा हुई हुई थी। हाथी, घोड़े, और वीरों का एक धर्म वर्णन करने के कारण तुल्ययोगितालङ्कार।

१८७-१८८. नन्द नेह०—नन्द का प्रेम छूटा नहीं पर शत्रु के दास हो गये हैं। उन वृक्षों को कैसे काटें जो अपने ही हाथ से बोये हैं! और मित्र पर भी अपने हाथ से प्रहार कैसे करें! (अर्थात् यदि मंत्री पद स्वीकार नहीं करते तो चंदनदास मारा जाता है) अहो! भाग्य की गति बड़ी प्रबल है मुझे कुछ समझ नहीं पड़ती।

पहली पंक्ति में स्वामी का प्रेम और स्वामी के शत्रु का दासत्व एक साथ होने के कारण विषमालंकार है तथा दूसरी पंक्ति में अप्रस्तुत प्रशंसा।

पृष्ठ–१३६

ममस्पर्शकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय=मित्र प्रेम को जो सब

कार्यों के करने का कारण है नमस्कार करता हूँ।

पृ०–१३७

१८९ मैत्री राक्षस०—राक्षस से मित्रता हो गई, अकंटक राज्य मिल गया, नंद सब नष्ट हो गये अब इस से बढ़ कर और सुख क्या होगा।

१९०. छोड़ो सब०—सब हाथी घोड़ों को अब छोड़ दो किसी को बाँध कर न रक्खो। अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर के केवल अब हम अपनी शिखा बाँधते हैं।

१९१. वाराहीम्०—(प्राक्) पूर्व काल में (प्रलयपरिगता) प्रलय में निमग्न (भूतधात्री) पृथिवी ने (अतनुबलां) अत्यधिक बलशाली (वाराहीं तनुम्) वराह शरीर को (आस्थितस्य) धारण किये हुए (यस्य आत्मयोनेः) जिन विष्णु भगवान् के (दन्तकोटिं) दांत के किनारे का (शिश्रिये) आश्रय लिया था, और (अधुना) अब (म्लेच्छैः उद्वेज्यमाना) म्लेच्छों से आक्रान्त हो जाने पर पृथिवी ने (राजमूर्तेः) जिस राजमूर्ति के (पीवरं) दृढ़ (भुजयुगं) भुजाओं का (शिश्रिये) आश्रय लिया है (श्रीमद्बन्धुभृत्यः) लक्ष्मी युक्त बन्धु भृत्यों वाला (सः पार्थिवः चन्द्रगुप्तः) वह महाराज चन्द्रगुप्त (महीं) पृथ्वी की (चिरं) बहुत दिनों तक (अवतु) रक्षा करे।

समाप्त